नरेश मेहता कविता की ऊर्ध्व यात्रा

रामकमल राय

नरेश मेहता

कविता की ऊर्ध्वयात्रा

•

रामकमल राय

•

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

अनुक्रम

पूर्व-पीठिका

मेरे जैसे आदमी का लेखक के रूप मे प्रस्तुत होना एक सहज विकास का क्रम नही है। मेरी पूरी औपचारिक पढाई विज्ञान की हुई। रसायन-शास्त्र के अध्यापक के रूप मे मैंने जीवन के उन दस वर्षों को बिताये जो किसी लेखक नामधारी व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकते है। मै नही जानता यह मेरा कितना दुर्भाग्य था और कितना सौभाग्य कि विज्ञान का अध्यापन, राजनीति का संघर्ष (जिसमे एकाधिक बार जेल-यात्रा करनी पड़ी) और साहित्य का अंतरंग अध्ययन साथ-साथ चलते रहे। जिस दिन मैंने भौतिक-शास्त्र और गणित जैसे विषयो की स्नातकीय परीक्षाएँ दी, उस दिन भी रात में सोते समय 'नदी के द्वीप' के पचासो पृष्ठ समाप्त करके ही नींद की गोद में जा सका। जिन दिनो जुलूस का नेतृत्व किया, सैकड़ो के साथ गिरफ्तार हुआ, उन दिनो भी रात में सोते समय, तालस्ताय, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की, हार्डी या लारेन्स के उपन्यासों को पढ़ते हुए ही सोने की बात सम्भव हो सकी। साहित्य के अध्ययन का क्रम कितना पुराना था, इसको ठीक याद कर पाना भी सम्भव नही। जब अभी अक्षर ज्ञान भी नही था, पाठशाला का मुँह भी नही देखा था, उन्ही दिनो पितामह रात में अपने बिस्तर पर साथ सुलाते समय ठीक-ठीक उच्चारण के साथ याद कराते थे : 'धियं सदा परिभवाग्नि....'' या ''नीलाम्बुज श्यामल कोमलांग....'' या त्वमेव माता च पिता त्वमेव....'' और अच्छी तरह याद है कितनी-कितनी बार उन्होंने मुझसे ''विद्या द्रविणं'' या 'परिभवाग्नि' कहलवाया होगा कि उच्चारण एकदम ठीक हो जाए। पूरा रामचरितमानस एवं महाभारत की कथा को सांगोपांग उन्होंने उस कच्ची उम्र में ही मेरी अनुभूति की दुनिया में उतार दिया था। और जब स्वयं पढ़ने लगा तो दसवी कक्षा पूरी होने के पूर्व शरच्चन्द्र के और प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण जी की अधिकाश कविताएँ पढ़ चुका था। पूरी 'आँसू' नवी कक्षा में ही कण्ठस्थ हो चुकी थी। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास तो छठवी-सातवी कक्षा मे ही नशे की तरह पढ़ गया था।

तो, साहित्य का यह अध्ययन कुछ इस तरह चला कि इलाहाबाद में जब क्रिश्चियन-कालेज में इण्टरमीडियेट साइन्स में पढ़ने आया तो कक्षा में विज्ञान और रोज शाम को पब्लिक लाइब्रेरी में साइकिल से जाकर साहित्य पढ़ता था। मैं खेलने में कभी भी रुचि नहीं ले सका, शायद यह मेरी और मेरे पूरे व्यक्तित्व-निर्माण की एक बड़ी भारी कमी रही। परन्तु उन्हीं खेल के घण्टों में मैं नित्यप्रति पब्लिक लाइब्रेरी जाता था। क्रिश्चियन-कालेज से लाइब्रेरी स्थल करीब दो-ढाई मील दूर था, परन्तु मैं निर्बाध और नियमित रूप से वहाँ जाता था। वहाँ का नियम यह था कि सेल्फ से पुस्तक निकाल कर पढ़ने की छूट थी। वहीं मैंने क्रम से 'झरना', 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' पढ़ी। 'अनामिका' 'परिमल' पढ़ी। 'गुंजन' और 'पल्लव' भी। 'पल्लव' की उत्तेजक भूमिका पढ़ी। 'तितली', 'कंकाल', 'इरावती', 'निरुपमा', 'चित्रलेखा', 'दिव्या', 'कल्याणी', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' जैसे उपन्यास पढ़े। 'चिन्तामणि' जैसा निबन्ध संग्रह पढ़ा। गरज यह कि साहित्य का एक गहरा अध्ययन पूरे मनोयोग से चलता रहा। विज्ञान का जो गृह-कार्य इस क्रम में पिछड़ जाता उसे रविवार को पूरा करता। विज्ञान का अध्ययन यदि एक चुनौती था तो साहित्य का अध्ययन एक व्यसन। स्नातकीय स्तर तक इन दोनों का निर्वाह होता रहा, व्यसन भी चलाता रहा और चुनौती से जूझता भी रहा। तभी एक तीसरा तत्त्व आ धमका। वह था डा० राममनोहर लोहिया का चुम्बकीय सम्पर्क। लखनऊ में कानून का अध्ययन कर रहा था। समाजवादी छात्रों का साथ प्रारम्भ ही हुआ था कि न जाने किस प्रज्ञाबोध से आक्रान्त होकर विश्वविद्यालय की समाजवादी युवजन-शाखा का सचिव मुझे बलात् बना दिया गया और कुछ ही महीनों में अखिल भारतीय समाजवादी युवजन-सभा की राष्ट्रीय समिति का सदस्य भी चुन दिया गया। विडम्बना यह कि जिस राष्ट्रीय-सम्मेलन में मुझे सन् '५७ में राष्ट्रीय-समिति का सदस्य चुना गया उसमें मैं उपस्थित भी नहीं था। फिर क्या था जब राष्ट्रीय-समिति की बैठक होती उसमें लोहिया की उपस्थिति एक अनिवार्य स्थिति थी और जिस पैने ढंग से और चुम्बकीय आकर्षण के साथ उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचा, लगा सारी चीजें एक-तरफ़ हो गयीं। वह तो संयोग ही था कि अगले वर्ष सम्मेलन के समय मैं जान-बूझ कर बीमार हो गया और वाराणसी में हुए सम्मेलन में शामिल नहीं हुआ वरना मुझे सचिव बनाने की सारी योजना यूँ विफल नहीं होती और न जाने उस वात्याचक्र में मैं कहाँ तक भटकता, अस्तु। इस आत्म-कथा में अधिक उलझना अब —— विषयान्तर हो जाएगा बस इतना ही और कि सबसे पहले

राजनीति की सक्रियता से मुक्त किया सडसठ ने, विरोधी पक्ष के सत्तासीन होने की घटना ने और विज्ञान के औपचारिक अध्यापन से मुक्त किया राममनोहर लोहिया-महाविद्यालय वाराणसी की स्थापना ने, जहाँ मैं प्राचार्य एवं हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक के रूप में 'सन ७१ में चला गया । संयोगवश बीच में मैंने हिन्दी साहित्य से एम० ए० भी कर लिया था । अब साहित्य मेरा व्यसन भी था और अध्ययन-अध्यापन का औपचारिक क्षेत्र भी ।

'तार सप्तक' और 'दूसरा सप्तक' का अध्ययन मैंने इण्टरमीडियेट में ही किया था । कविता की नयी भाषा और नये व्यक्तित्व से मेरा परिचय ही नहीं था वरन् मेरे भीतर के कुछ तार ऐसे थे जो समकालीन संवेदना की गहरी पहचान रखते थे । अब भी याद है कि 'तार सप्तक' की मुक्तिबोध की कुछ कविताएँ मेरे भीतर कितनी झंकार पैदा कर सकी थीं । इसी तरह 'धर्मवीर भारती' की कई कविताएँ जो 'दूसरा सप्तक' में छपी थीं मुझे पूरी तौर पर कण्ठस्थ हो गयी थीं । 'न हो यह वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो' या 'कौन कहता है कि कविता मर गई' जैसी दर्जनों पंक्तियाँ मेरे भीतर गूँज उठती थीं । उसी क्रम में सबसे पहले मैंने नरेश मेहता की कविताओं को देखा और पढ़ा था जो 'दूसरा सप्तक' में छपी थीं । 'उषस्' शृङ्खला की कविताएँ मुझे अच्छी लगी थीं, परन्तु सबसे अच्छी लगी थी पहली कविता 'चाहता मन' । उसकी पंक्तियाँ पूरी संवेदना को झनझना देने वाली थीं । आज तक यह कविता मेरी अत्यन्त प्रिय कविताओं में से है । "चाहता मन / तुम यहाँ बैठी रहो, / उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा श्वेत आँचल / किन्तु अब तो ग्रीष्म, / तुम भी दूर, औ, ये लू ।" अजीब नशा था इस कविता का । एक विचित्र अवसाद पूरी चेतना पर उतर आया था । 'समय-देवता' उस समय मुझे जरा भी नहीं रुची थी । उसके सघन और अत्यन्त नये बिम्ब मेरे गले के नीचे नहीं उतर पाये थे । किन्तु सबसे अधिक मैं प्रभावित हुआ था, उनके वक्तव्य से । एक अजीब आत्म-विश्वास, एक सर्जनात्मक-संकल्प और एकाकी चलने का भाव उनके वक्तव्य में झलकता था । उसी वक्तव्य में से यह भी ध्वनित होता था कि नरेश मेहता 'शेखर : एक जीवनी' और उसके रचयिता की कहीं-न-कहीं वर्चस्विता स्वीकार करते हैं । 'अज्ञेय' का अभी मैं मुरीद नहीं था । कम से कम कवि रूप में मैंने उन्हें अभी ठीक से नहीं जाना था । कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में ही अज्ञेय का अभी मेरे ऊपर प्रभाव था, विशेष कर 'शेखर : एक जीवनी' का । 'दूसरा सप्तक' में रघुवीर सहाय की कविताएं भी बेहद अच्छी लगी थीं ।

परन्तु आगे का क्रम ऐसा रहा कि ५४-५५ से लेकर ७०-७१ तक लगातार जिस एक रचनाकार ने मेरे भीतर सबसे अधिक अपने को उतारा वह 'अज्ञेय' थे। 'अज्ञेय' से मेरा कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं था। 'परिमल' की प्रयाग की कई गोष्ठियों में अवश्य मैंने उन्हें देखा था, परन्तु परिचय जो भी था साहित्य के माध्यम से। 'इत्यलम', 'बावरा अहेरी', 'हरी घास पर क्षण भर', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'सागर मुद्रा', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'महावृक्ष के नीचे' आदि संकलन ज्योंही प्रकाशित हुए मैंने खरीदे। इनमें संकलित अधिकांश कविताएँ मेरे भीतर बजने लगती थी। इनमें की कितनी कविताएँ जब वे 'कल्पना' या 'प्रतीक' आदि में छपीं तभी मैंने उन्हें पढ़ी। एक अजीब सम्मोहन बनता चला गया, अज्ञेय के कृतित्व के प्रति। 'टेसू', 'अच्छा खण्डित सत्य', 'नये कवि से', 'दूर, दूर, दूर', आदि अनेक कविताएँ पत्रिकाओं में छपते ही मुझे याद होती गयीं। लगता था इस कवि की सरंचना में ऐसा कुछ है जो मेरी संरचना में भी वैसे ही है। अज्ञेय' के कृतित्व के प्रति जो एक रागानुभूति मेरे मन में बनती गयी वह मुझे भी रहस्य ही लगती थी। कुछ वैसी रागानुभूति जो प्रणय की समकक्षिणी कही जा सके। इस बीच मैंने 'तीसरा सप्तक' की कविताएँ पढ़ी। सर्वेश्वर, साही और केदार नाथ की कविताएँ बेहद अच्छी लगी, परन्तु नरेश मेहता के उपन्यासो से ही अभी मेरा परिचय हो पाया था। 'डूबते मस्तूल', 'नदी यशस्वी है', 'धूमकेतु एक श्रुति', तथा 'यह पथ बन्धु था' इन सभी उपन्यासों को मैंने पढ़ा था। उनके उपन्यासों की धीमी गति, उनमें एक शास्त्रीय रस-निष्पत्ति तथा उनकी संस्कृतनिष्ठ भाषा कई अर्थों में मुझे अच्छी लगती थी, परन्तु नरेश मेहता के कवि-व्यक्तित्व की कोई गहरी छाप मुझ पर अभी नही थी। 'सन् ७७ में नई कविता पर शोध-कार्य पूरा करने प्रयाग आया, और नये सिरे से नई कविता को सांगोपांग पढ़ने का क्रम चला। कई कवि जो सप्तकों के बाहर के थे बेहद अच्छे लगे, जिनमें अपनी तीखी व्यंजना के कारण लक्ष्मीकान्त वर्मा और अपनी नवीन सहजता के कारण विपिन अग्रवाल मुझे विशेष प्रिय लगे। परन्तु क्रान्तिकारी बदलाव तो तब आया जब मेरे हाथ सद्य. प्रकाशित 'उत्सवा' लगी। 'उत्सवा' के पूर्व नरेश मेहता के 'बोलने दो चीड को', 'वनपाखी सुनो', 'समर्पित एकान्त' आदि संकलन प्रकाशित हुए थे। 'संशय की एक रात', 'शबरी', 'महाप्रस्थान' और 'प्रवाद-पर्व' नामक खण्ड काव्य भी प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु मैं उनसे एक सीमा तक अपरिचित था। 'उत्सवा' की एक-एक कविताएँ मेरे भीतर अत्यन्त गहराई में उतरती जा रही थी। लगता था जैसे एक विचित्र तन्मयता और समाधि-भाव

से इन कविताओं की रचना हुई है। और उसी तन्मयता और समाधि-भाव तक ये रचनाएँ पढ़ने वाले को ले जाती हैं। और यदि पाठक में वह उन्मुखता नहीं है तो वह इन कविताओं के प्रथम दर्शन पर ही इनसे बिदक उठेगा, उसे लगेगा ही नहीं कि वह इन्हें पढ़े भी। 'उत्सवा' जिस धरातल की सर्जना है वहाँ बोध का अनुभूति में और अनुभूति का बोध में परस्पर संचरण होता है। पूरे व्यक्तित्व को एक ऐसे भाव-लोक में उतार कर इन कविताओं को लिखा है जिसकी सहज ही कल्पना नहीं की जा सकती। यह कह देना जितना सरल है कि नरेश मेहता प्रारम्भ से अन्त तक एक ही कविता लिखते हैं, उतना उस सर्जनात्मक धरातल की अपने में अवतारणा सरल नहीं है। यह कहना वैसा ही है जैसे हम कह दें कि आयु के क्षण को अमुक सन्त ने हठयोग के द्वारा रोक लिया है, उसमें कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु कितने है जो योग की उस साधना को अपने जीवन में उतार सकते है, जिससे आयु का क्षण रुक जाए। मैं इस निश्चित राय का हूँ कि नरेश मेहता की काव्यानुभूति और उनकी काव्य-भाषा का जो स्वरूप 'उत्सवा' में उपलब्ध है, वह हिन्दी की नयी कविता की एक विशिष्ट उपलब्धि है। गहन चिन्तन और गहन अनुभूति को एकाकार करके ही उस सर्जनात्मकता को चरितार्थ किया जा सकता है और वह भी तब जब उसके साथ आर्ष-ग्रंथों का गहन अध्ययन हो और अत्यन्त गहरी संस्कारिता हो। संयोगवश नहीं, वरन् एकान्त साधना और संकल्प के बल पर ही नरेश मेहता में ये सारे तत्व एकत्र हो सके है।

'उत्सवा' को पढ़ने के पूर्व ही मेरा नरेश जी से गहरा परिचय हो चुका था। उनके व्यक्तित्व में जो अप्रतिम आत्मीयता है उसने मुझे काफ़ी दूर तक प्रभावित भी किया था। उनके साथ लम्बे-लम्बे काल तक बैठकर मैंने अनेकानेक विषयों पर बातें भी की थी, परन्तु 'उत्सवा' के अध्ययन ने मेरे अन्दर उनके समूचे कृती व्यक्तित्व के प्रति एक नयी उत्कण्ठा उत्पन्न की। मुझे लगा कि इस व्यक्ति में साहित्य-सृजन के प्रति जो अनन्य आस्था और गहन निष्ठा है, वह कई अर्थों में विशिष्ट है। साथ ही मैंने नरेश जी के व्यक्तित्व का वह मानवीय पक्ष भी अधिक निर्भ्रान्त रूप से देखा जो मेरी श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन सके। इसके पूर्व मेरा 'अज्ञेय : सृजन और संघर्ष' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुका था और नरेश जी ने उसे पढ़ा भी था। 'अज्ञेय' के प्रति मेरे आदर भाव से वे परिचित थे, परन्तु कहीं उनमें कोई इस कारण मेरे प्रति अन्यथा भाव नहीं था। उल्टे मैंने देखा कि उनमें और अज्ञेय में कई समानताएँ है। दोनों मनुष्य के उदात्त पक्ष पर बल देने वाले कवि हैं। दोनों में

एक विराट् चेतना मे साक्षात्कार की अनुभूति है। दोनो मानव इकाई की सर्जनात्मकता और उसकी अस्मिता के प्रति चिन्ताशील हैं। दोनों हिंसा, प्रतिशोध और शारीरिक संघर्ष के प्रति विरक्ति का भाव है। अर्थात् दोनों के व्यक्तित्वो के कई धागे समान है। अज्ञेय मे भी इधर गहरा सम्पर्क होता चला गया था और अत्यन्त गहराई मे मैं अनुभव कर रहा था कि इन दोनो कवियो मे मूल्य-दृष्टि की काफी एकरूपता है। यह सही है कि अज्ञेय मे अधिक वैविध्य है। उनके प्रेरणा स्रोतो मे काफी विविधता है। परन्तु विश्व के प्रति कल्याण का भी भाव उनमे भी उतना ही है, जितना नरेश मेहता मे। आगे बढ़कर मुझे यह भी लगा कि कदाचित् मेरे कारण यदि ये दोनो रचनाकार एक दूसरे के एक सीमा तक निकट आ सके तो यह मेरी एक सन्तोषप्रद उपलब्धि होगी। आज मुझे लगता है कि यह कार्य एक सीमा तक सम्भव हो सका है।

नरेश मेहता की पूरी काव्य-यात्रा से गुजरते हुए मुझे लगा कि उनमें जहाँ अपने अतीत के प्रति, अपने प्राचीन मिथकों के प्रति एक गहरी आस्था का भाव है वहीं उनमें अपने समकालीन प्रश्नों और समस्याओं के प्रति गहरी चिन्ता भी है। उनके मिथक-प्रयोगों में यह समकालीन चिन्ता अत्यन्त गहराई से व्याप्त है। इतना ही नहीं उन्हे यह भी स्पष्ट लगता है कि जिस लम्बी विकास-यात्रा को पूरी करके मनुष्य के रूप में आज गोचर है, उसको सही रूप में प्रमाणित करने के लिए हमारे चिन्तन और व्यवहार में ऐसे नये आयामों की अवतारणा होनी एक अनिवार्य शर्त है, जिनके आधार पर हम निश्चित रूप से अपने को पशु बोध से ऊपर की चेतन सत्ता के रूप में पहचनवा सकें। हिंसा, क्रूरता, प्रतिकार, प्रतिशोध, बलात्कार, युद्ध, अन्याय, दमन आदि जो आज के समाज की कड़ुवी सच्चाइयों के रूप में मुँह बाये खड़ी है, उनसे हम इन्ही का सहारा लेकर पार नहीं पा सकते है। ये सारी विशिष्टताएँ पशु जगत की है। मनुष्य के रूप मे हमें जो क्षमा, दया, प्रेम, सहानुभूति, ममता, उदारता आदि उदात्त मानवीय गुण प्राप्त हुए है, उन्हे अधिकाधिक जगाकर ही हम श्रेष्ठ मानव बन सकते है। यह सही है कि उपदेश के द्वारा इन गुणो का प्रसार सम्भव नहीं है। वह रास्ता नरेश मेहता अपनाते भी नहीं है। वे तो अपनी साधना के आँवे मे अपने को तपाते है। स्वयं तपकर प्रोज्ज्वल रूप में नयी कान्तिमयता के साथ अपनी सर्जना को लेकर हमारे सामने आते हैं। उनकी सर्जना उपदेशात्मक नहीं है। वह हमें हमारे भीतर के प्रकाश से साक्षात्कार कराती है। यही उसकी सिद्धि है। यहाँ हम उनके काव्य का मूल्यांकन नहीं करने जा रहे है। उसकी

परख कुछ दृष्टि विन्दुओं को केन्द्र बनाकर आगे के अध्यायों में की गयी है। यहाँ तो बस इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कवि में क्या नहीं है इसकी खोज करने से अधिक उपयोगी कार्य है यह खोज करना कि उसमें क्या है और जो है वह किस सीमा तक खरा है।

विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य का अध्यापन करना एक प्रकार से जरूरी बना देता है कि अध्यापक आधुनिक समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों से सुपरिचित हो, चाहे वह भारतीय हो या योरोपीय। परन्तु यह पुस्तक 'अज्ञेय : सृजन और संघर्ष' की परम्परा में ही लिखी गयी है। इसमें किसी समीक्षा-पद्धति को पूर्ण रूप से स्वीकारा नहीं गया है। ऐसा करना कहाँ तक इसकी शक्ति बना है और कहाँ तक इसकी सीमा यह तो आप ही बता सकते हैं।

६०-सी, बाघम्बरी मार्ग
इलाहाबाद
१२-७-८२

—रामकमल राय
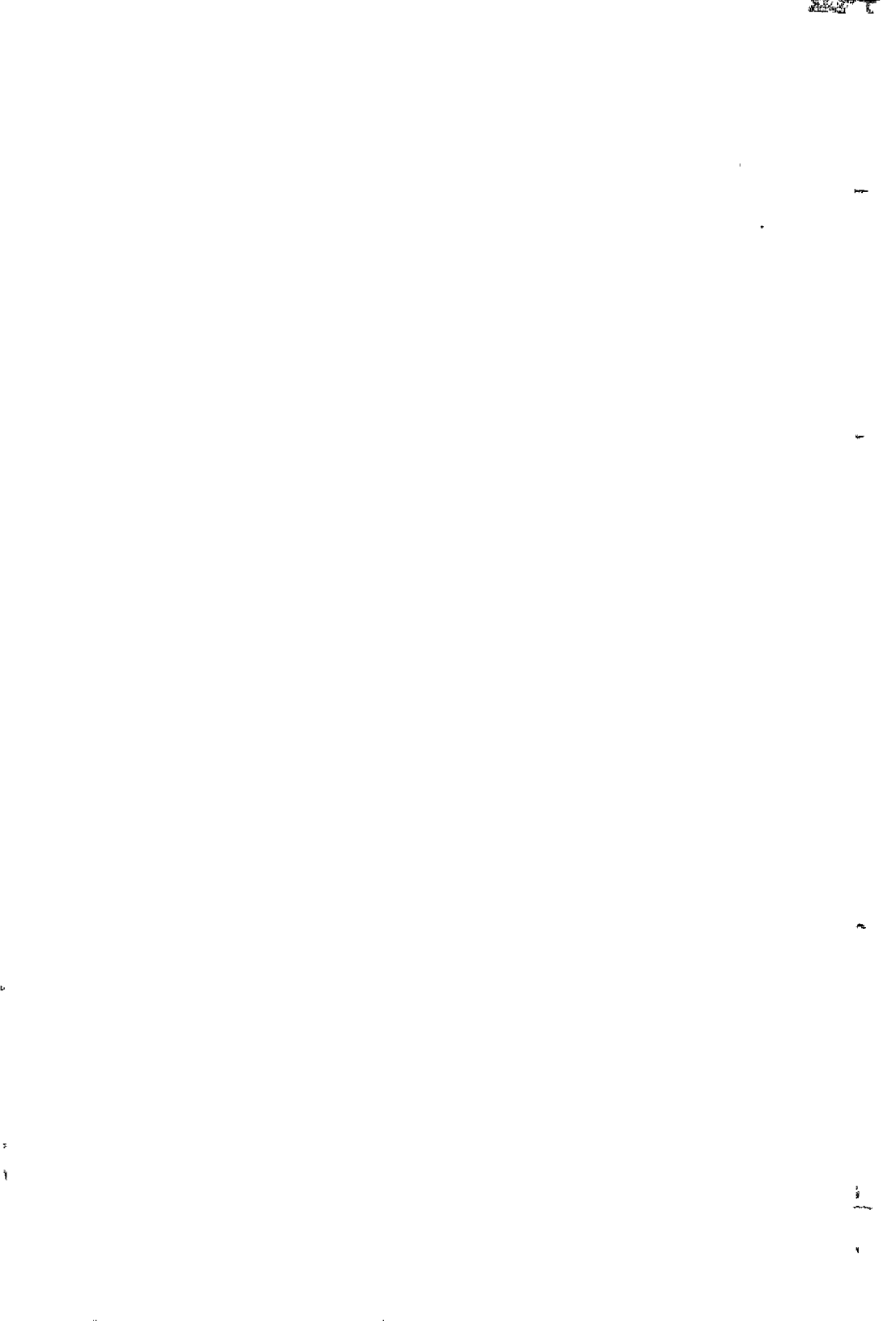
प्रथम अध्याय

समृद्धि, यातना और आत्मसाक्षात्कार

सप्तकों और नयी कविता की विशाल सृजन-भूमि पर जो कुछ विशिष्टतम कवि-व्यक्तित्व अंकुरित, पल्लवित एवं विकसित हुए तथा अपने पुष्प-गन्ध एवं फलसम्पदा से हिन्दी-जगत को परितृप्त एवं परिपूर्ण किये उनमें एक विशिष्ट नाम श्री नरेश मेहता का रहेगा। जिन परिस्थितियों में श्री नरेश मेहता का जन्म एवं प्रारम्भिक विकास हुआ वे अपने आप में इतनी वैविध्यपूर्ण एवं तीखी हैं कि निश्चय ही उनकी आँच में तप कर कोई विराट् व्यक्तित्व ही निकल सकता था। जन्म एक ऐसे ब्राह्मण परिवार में हुआ जो संस्कार से ही आर्ष परम्परा में निष्णात था। मालवा के शाजापुर नाम के एक कस्बे में १५ फरवरी १९२२ को श्री नरेश मेहता का जन्म हुआ। पिता श्री बिहारी लाल के तीन विवाह हुए थे। पत्नियाँ एक-एक कर मरती गईं बिना पुत्र का मुख देखे और पति को क्रमश: असंग बनाती गईं। तीसरी पत्नी से पुत्र का जन्म हुआ तो जन्म के डेढ़ वर्ष पश्चात् ही माँ चल बसीं। इस प्रकार पिता को तीन पत्नियाँ खोकर एक पुत्र रत्न मिला था। ऐसे पिता का अपने पुत्र के प्रति एक अजीब सकुल भाव होना स्वाभाविक ही था। जहाँ एक ओर इस पुत्र के प्रति आन्तरिक ममता और गहरा वात्सल्य का एक गहन भाव उनमें रहा होगा तो निश्चय ही अपनी तीन-तीन पत्नियों को खोने का सन्ताप भी कहीं-न-कहीं इस वात्सल्य को रंजित करता रहा होगा। अनजाने ही पुत्र के प्रति एक राग-मुक्ति का भाव उनमें निर्मित होता गया। पिता असंग होते चले गये।

बाबा एक पुरुषार्थी व्यक्तित्व के धनी थे। उनके दो लड़के और थे। एक पं० शंकरलाल मेहता और दूसरे पं० रामनारायण जी। पं० रामनारायण जी उस समय सन् १४ में प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किये थे। सम्भवत: वे ग्वालियर राज्य के पहले बी० ए० थे। उनकी अकाल मृत्यु समुद्र में स्नान करते हुए हो गई थी। इस मृत्यु से जहाँ परिवार के सभी सदस्यों को गहरी चोट

पहुँची होगी नरेश जी के पिता जी के क्रमशः शिलीभूत होते हुए मन को और भी जड़ बना गई होगी। एक बातचीत में नरेश जी ने एक बार कहा था कि 'पिता जी की यातना को मैंने देखा तब था, परन्तु समझता अब हूँ।' दूसरे चाचा श्री शंकर लाल मेहता धार राज्य में एक विद्यालय में हेड-मास्टर थे और बाद में डिप्टी कलेक्टर हो गये थे। ये बड़े ही दबंग व्यक्तित्व वाले व्यक्ति थे। पढ़े लिखे और सुसंस्कृत रुझान वाले। जहाँ एक ओर मोटर, बँगला और नौकर चाकर से परिपूर्ण वैभवशाली उनका घर था वहीं उनमें कविता और कला के प्रति भी गहरी रुझान थी। वे स्वयं ब्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे। फारसी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। 'कविता-कुसुम' नाम से एक ब्रज-भाषा का संकलन भी उन्होंने किया था जो दो भागों में प्रकाशित हुआ था। गणित में भी उनकी गहरी रुचि थी। विदेशों से गणित की पुस्तकें मँगा कर उनका अध्ययन करते थे। उनके शौक भी विचित्र एवं विविध थे। बढ़ईगीरी फोटोग्राफी, कालीन बुनना और शतरंज उनकी हाबी थी। उन्हें केवल एक ही सन्तान थी, एक बच्ची, जिसका नाम अन्नपूर्णा था। उसकी भी मृत्यु बचपन में ही हो गई। इन्हीं चाचा जी ने बालक नरेश को अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया था। ३. ४ वर्ष की उम्र में ही नरेश जी अपने चाचा के पास चले गये थे। वहाँ का सम्पन्न वातावरण ही नरेश का बचपन का वाता-वरण था। जहाँ कविता, कला और भौतिक सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था थी। इस काल के नरेश मेहता एक ऐसे बालक थे जिन्हे कहीं कुछ ऊपरी तौर पर कष्टकर नहीं था। फिर भी गहराई में, अत्यन्त गहराई मे माँ की मृत्यु और पिता जी से बिछोह की कसक बालक नरेश के मन में जरूर बनी रही होगी। पिता जी एक साधारण नौकरी में थे। वे रजिस्ट्रार थे और अपने में डूबे हुए जी रहे थे। लड़के का दायित्व भी उनसे एक प्रकार से छिन ही गया था। इधर नरेश का बचपन सारी ऊपरी परिपूर्णताओं मे विकास की मंजिलें पार कर रहा था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "मेरे व्यक्तित्व मे दो व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते है। साहित्यिक असंग व्यक्तित्व मेरे पिता का है और उदार, उल्लसित और वैभवपूर्ण व्यक्तित्व मेरे चाचा का।' नरेश जी के पिता की मृत्यु जब वे २३ वर्ष के हो चुके थे तब हुई। तब तक तो नरेश ने अनुभव के अनेक सोपान पार कर लिये थे। नरेश जी बतलाते है कि उनके बाबा के एक साढ़ थे पुराणी-बुआ, जो प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उन्होंने बालक नरेश का हाथ देखकर बतलाया था कि यह बच्चा घर पर टिकेगा नहीं। नरेश चाचा के साथ छठवी कक्षा तक ही रह सके, क्योंकि उसके

बाद की पढ़ाई उस कस्बे में नहीं होती थी, जहाँ चाचा की नियुक्ति हुई थी। उसके बाद पढ़ने के लिए वे नरसिंहगढ़ चले गये जहाँ उनकी बुआ का घर था। वहीं उन्होंने ७, ८, ९ और १०वीं कक्षायें उत्तीर्ण की। पालन-पोषण का सारा खर्च चाचा जी ही वहन करते थे।

नरेश की एक विमाता से एक बहिन थी, जिसका नाम शान्ति था। शान्ति से नरेश को बेहद लगाव था। शान्ति बहन ही बड़ी थी। नरेश का सृजनात्मक मन शान्ति से जुड़ा हुआ था। शान्ति बाद में बीमार रहने लगी थी। उनकी मृत्यु सन् ३२ में हुई जब नरेश केवल १० वर्ष के थे। मृत्यु के १८-२० दिनों पूर्व का एक प्रसंग याद करते हुए नरेश जी ने बतलाया, "हम दोनों बैठे हुए थे। बलाकाओं के दल उड़ते आ रहे थे। दीदी ने पूछा कि ये कैसे लगते हैं? मैंने उत्तर दिया, 'लगता है ये दो भौंहें हैं।' यही सम्भवतः मेरी पहली रचना है।" नरेश जी ने आगे डूबे हुए कहा, "शान्ति दीदी की मृत्यु मेरे लिए सबसे दारुण घटना थी। वह मेरे लिए माँ के तुल्य थी।" शान्ति की मृत्यु प्रसव की पीड़ा से हुई। इस प्रकार नरेश की मातृतुल्या बड़ी बहिन शान्ति भी चल बसीं। दोनों मातृहीन थे, परन्तु दोनों ही एक दूसरे के सम्बल थे। यह सम्बल भी नरेश का टूट गया। भीतर से वे और बेसहारा हो गये।

नरसिंहगढ़ के निवास काल में नरेश ने स्कूली पढ़ाई के अतिरिक्त भी बहुत कुछ पढ़ा। 'राबिन्सन क्रूसो' को नरेश ने ६वीं कक्षा में ही पढ़ा। ३९-४० में जब विश्व के राजनीतिक क्षितिज पर हिटलर का चकाचौंधकारी उदय हुआ था, नरेश ने उसकी आत्मकथा 'मीन-कैम्फ' पढ़ी। किशोर मानस पर यूरोप की विवादात्मकता का गहरा प्रभाव पड़ा। देश के भीतर भी बहुत कुछ घटित हो रहा था। भगत सिंह की फाँसी ने पूरे किशोर एवं युवा-मन को आन्दोलित कर दिया था। भगत सिंह की मृत्यु के पश्चात् नरेश ने खादी की टोपियाँ खरीदीं। 'बागी की गजलें' खरीद कर पढ़ीं। नरसिंहगढ़ में नरेश के जीवन में और सक्रियता आई। अपने स्कूली मित्रों से नारायण सिंगापुरी और शंकर सिंह आदि के साथ गोष्ठियों और पत्रिका आदि निकालने का क्रम शुरू किया। अब उन्होंने बाकायदे कविता लिखना शुरू कर दिया था। यात्रा वृत्तान्त का नरेश को बड़ा आकर्षण था। सत्यदेव परिव्राजक का 'अमरीका-भ्रमण' छपा था, जिसे नरेश ने कई बार पढ़ा। इसी समय 'जर्मन जागरण का बिगुल' जैसी पुस्तकें भी नरेश ने पढ़ीं। किसी देश और जाति का अँगड़ाई लेकर उभरना नरेश को आह्लादित करता था।

१८ वर्ष की उम्र में नरेश अपने अध्ययन के क्रम में उज्जैन आये। उज्जैन में वे पूरी तौर पर सक्रिय थे। साहित्य और राजनीति दोनों क्षेत्र उनकी उत्कण्ठा और सक्रियता को आहूत कर रहे थे। पैसे बराबर चाचा के यहाँ से आते थे। चाचा के साथ बिताये गये बचपन के कुछ वर्ष बालक नरेश के भीतर एक खर्चीला सामन्ती स्वभाव का निर्माण कर चुके थे, वे शाहखर्ची से रहते थे, चाचा ने मनीआर्डर के साथ एक बार कुछ चुभती हुई चेतावनी भी दे डाली थी। बस क्या था? नरेश के भीतर बैठा वह असंग स्वाभिमान फनफना उठा। उसने मनीआर्डर वापस कर दिया। इतना ही नहीं, आगे चाचा का कोई पैसा कभी भी स्वीकार नहीं किया, जीवन पर्यन्त। इस एक घटना से नरेश जी के स्वभाव का गहरा विश्लेषण हो सकता है। उनकी फकीरी का, उनके स्वाभिमान का, उनके संकल्प का, उनकी मंगलकांक्षिणी रचना धर्मिता का बीज-मंत्र इस एक घटना में खोजा जा सकता है। उसके बाद नरेश जी ने कितनी ही यातनाएँ भोगीं, वे अभाव के कितने ही मर्मान्तिक अनुभवों से गुजरे, परन्तु उन्होंने कभी भी उलट कर अपने सगे चाचा की ओर नहीं देखा। डिप्टी कलक्टर के रुतबे में ढला हुआ चाचा का व्यक्तित्व लगातार प्रतीक्षमान रहा होगा कि लड़का एक बार हाथ फैला दे, फिर तो उस पर कुछ भी वारा जा सकता था परन्तु यह नहीं होना था, नहीं हुआ। यातना और अभाव और संकल्प और रचना-शीलता की कड़ियों से जुड़ा हुआ एक नया व्यक्तित्व निर्मित होना था और वह हुआ।

नरेश जी एक बड़ी ही रोचक घटना बतलाते हैं। जब इण्टरमीडिएट पास होने पर पिता जी से भेंट हुई तो उन्होंने नरेश जी को प्रसन्नता का प्रतीक एक ब्लैक-बर्ड कलम इनाम दिया। कौन जानता था कि पिता ने वह लेखनी पुत्र को थमाई है जो जीवन-पर्यन्त अपनी नोक से संस्कृति की शाश्वतता की प्रतिष्ठा करती रहेगी? तो क़लम देने के पश्चात् पिता जब असंग भाव से अलग हटना ही चाहते थे कि पुत्र ने प्रस्ताव किया कि वह काशी जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता है। पिता ने अपनी जेब की कुल धनराशि ३३, ३४ रुपये निकाल कर अर्पित करते हुए कहा, "मेरे पास तो यही रक़म है। इसे लेकर आप बनारस जायें या जापान मुझे कोई आपत्ति नहीं।" और सचमुच नरेश जी काशी के लिए चल पड़े। उज्जैन से काशी—कालिदास की भूमि से तुलसी की भूमि —तक की यह यात्रा नरेश जी के रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण यात्रा थी। बीच में प्रयाग पड़ता था गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम। नरेश जी का मन हुआ- क्यों न प्रयाग

को ही अपना अध्ययन केन्द्र बनायें। उतर गये। विश्वविद्यालय का वातावरण उन्हें कुछ जरूरत से ज्यादा साहबी लगा। नरेश के ब्राह्मण संस्कार आड़े आये। एक बहाना मिला। फ़ार्म के साथ चौवालीस रुपये जमा करने थे। नरेश जी के पास कुल चार रुपये थे। उल्टे पाँव स्टेशन लौट आये और बनारस की गाड़ी पकड़े। उज्जैन से काशी की यात्रा शुरू हुई थी और अन्तत काशी में ही समाप्त हुई। बीच का प्रयाग जो काफ़ी दिनों बाद नरेश जी का सृजन-स्थल बना, प्रतीक्षा ही करता रह गया। गाड़ी में ही मुगलसराय में एक अपरिचित सज्जन मिले जो नरेश जी को अपने साथ विश्वविद्यालय तक ले गये। वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डा० योगेन्द्रनाथ (योगी मामा) मिश्र थे। उनके बहनोई श्री रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' उज्जैन के माधव कालेज में प्राध्यापक रह चुके थे, किन्तु तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी। उज्जैन से आने वाले नरेश के प्रति आत्मीयता का यह एक हल्का-सा सूत्र योगेन्द्रनाथ जी के मन में अवश्य रहा होगा। वे बनारस में कमच्छा पर रहते थे। काशी के प्रारम्भिक दौर में डा० मिश्र का सहयोग महत्वपूर्ण रहा। उन्होंने ही विश्वविद्यालय में प्रवेश दिलवाया और प्रारम्भ के दो महीने उन्हीं के घर पर नरेशजी ने बिताये। फिर उन्हें बिरला छात्रावास में प्रवेश मिल गया।

अब एक नया दौर शुरू हुआ। निश्चित राशि २० रुपये महीने की थी जो पिता जी के यहाँ से आती थी। पिता जी के स्वभाव की चर्चा करते हुए नरेश जी बतलाते हैं कि वे असंग अवश्य थे, परन्तु रूखे नहीं थे। उनसे जब भी मिलना हुआ एक अजीब निस्संग आत्मीय, वत्सल भाव मुझे मिला। उस बीस रुपये में ही महीने भर का खर्च तो नहीं चल सकता था। नरेश जी ने उन किसी भी रास्तों पर चलना स्वीकार नहीं किया जिनमें अपने को असहाय घोषित करके दूसरों से सहायता प्राप्त करने की सुविधा थी। यहाँ तक कि एक सहज रास्ता हुआ करता था महामना मालवीय से मिलकर अपनी असमर्थता बतलाना और उनसे कई प्रकार की आर्थिक छूट प्राप्त करना। नरेश जी ने यह भी नहीं किया। उनका परिचय मालवीय जी से बहुत बाद में हुआ। उन दिनों की स्मृतियाँ नरेश जी की बेहद कड़ुवी हैं। अभाव की, यातना की तिक्ततम स्मृतियाँ। कई बार नाम कटा, फिर लिखा गया। महीने-महीने कभी एक वक्त खाना खाया। कई-कई दिन फ़ाके किये। अय्यर होटल में छः पैसे में डोसा मिलता था। एक डोसा खा लिया और कई वक्त का उपवास करना पड़ा। तीन दिन का उपवास तक करना पड़ जाता था। शरीर की इतनी कठोर यातना चलती रही परन्तु प्रतीक्ष्यमान चाचर जी को सहायता का अवसर नरेश

जी ने नहीं दिया। इस कठिन तपस्या के दिनों में नरेश जी का मानस किस प्रकार का ज्ञान और संस्कार जुटाता रहा वह एक महत्वपूर्ण तथ्य है उनके आज के स्वभाव और रचनात्मक प्रवृत्तियों को समझने के लिए।

उन दिनों नरेश जी ने वेद पढ़ना शुरू किया था। ज्ञान और अनुभव की वह आर्ष संस्कारिता उनके पूर्वजों से छन कर आये रक्त-प्रवाह में मिलती जा रही थी। हमारे देश के ऋषियों ने शरीर को कृश करके ही जीवन के शाश्वत सूत्रों का आविष्कृत किया था। अनजाने ही नरेश जी उस पथ के पथिक बन चुके थे। काशी में उन दिनों आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सरीखे आचार्यों का साहचर्य नरेश जी को प्राप्त था। जहाँ उनका शरीर निरन्तर कष्ट के दौर से गुजर रहा था वहीं उनके मानसिक संस्कार उदात्ततर भूमि पर प्रतिष्ठित हो रहे थे। बनारस में उन्हें एक मित्र मिले पूर्णगिरि गोस्वामी, जिन्होंने नरेश जी के छात्र जीवन में बेहद सहायता की। श्री पूर्णगिरि गोस्वामी काशी विद्यापीठ में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक हैं। यातना और संकल्प के इस तीखे दौर में नरेश जी प्रायः अकेलेपन की अनुभूति में लदे होते थे। नये कवियों में बनारस में श्री शम्भूनाथ सिंह का एक गीतकार के रूप में जोर था। नरेश जी शम्भूनाथ सिंह के बहुत निकट नहीं बन सके। सम्भवतः दोनों के स्वभावों में काफ़ी अन्तर था। स्नातक कक्षाओं में नरेश जी के अध्ययन के विषय थे—राजनीति शास्त्र, प्राचीन इतिहास और हिन्दी साहित्य। यह विचित्र संयोग है कि ये ही तीनों विषय उनके आगे के जीवन क्रम में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बने रहे। राजनीति के क्षेत्र में अर्से तक वे सक्रिय रहे। प्राचीन इतिहास उनकी संस्कृति-केन्द्रित दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण विषय था ही और हिन्दी साहित्य जिसमें उन्होंने एम० ए० किया उनके जीवन का प्रधान रचना-क्षेत्र बना। यूँ तो नरेश जी ने हिन्दी साहित्य में शोध-कार्य भी प्रारम्भ किया था डा० नन्ददुलारे वाजपेयी के साथ, परन्तु वाजपेयी जी के बनारस छोड़ देने के कारण नरेश जी का शोध-कार्य भी अधूरा ही रह गया। धीरे-धीरे बनारस का आकर्षण नरेश जी के मन में समाप्त होता जा रहा था। सन् ४६ में नरेश जी ने एम० ए० किया था और ४७ में बनारस छोड़ दिया। काशी के जीवन की स्मृतियों में खोये हुए नरेश जी ने एक प्रसंग बतलाया—"घर जाना था। पास में किराये के पैसे नहीं थे। माँगना स्वभाव में ही नहीं था। एक रास्ता सूझा। कुंज-गली में कुछ सुरुचि सम्पन्न व्यापारियों को कविता सुनाकर ४० रुपये पारि-

श्रमिक के रूप मे प्राप्त किये और उसी से घर गया।" इस प्रकार के प्रसंग नरेश जी के स्वभाव को उद्घाटित करने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

जीवनारम्भ एक प्रकार से लखनऊ मे हुआ। आल इण्डिया रेडियो मे काम मिला। यही गिरिजा कुमार माथुर से प्रथम परिचय हुआ। गिरिजा कुमार जी का प्रसंग छिड़ने पर नरेश जी खामोश हो गये। कुछ देर चुप रह कर उन्होंने कहा—'अच्छी स्मृतियाँ नही हैं. छोड़े।" वह दौर भी काफी कड़ुवा था. जरूरत पूरी करने के लिए ही इधर-उधर खटना पड़ता था।

सन् ४८ से ५३ तक नरेश जी ने रेडियो की नौकरी की। इसी दौर मे वे दो वर्ष प्रयाग मे रहे। ५० से ५२ का यह प्रयाग-निवास उनके लिए बहुत प्रेरणादायक नहीं रहा। एक प्रकार से वे अलग-थलग रहे। नरेश जी की राजनैतिक रुझान उस समय कम्युनिस्ट पार्टी मे थी। लखनऊ मे वे प्रगतिशील लेखक संघ के सम्पर्क मे भी आ गये थे। नरेश जी उन दिनो को याद करते हुये बतलाते है कि "मैं कम्युनिस्ट लेखक अवश्य था परन्तु मेरी विश्वसनीयता उन लोगों की दृष्टि मे सन्दिग्ध थी। त्रिलोचन, शिवमंगल सिंह सुमन, प्रकाश चन्द्र गुप्त और अमृतराय आदि मुझे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। कम्युनिस्ट होते हुये भी मेरे मन मे आर्ष-साहित्य और वैदिक मूल्यों के प्रति जो उन्मुखता थी, वह उन लोगो की समझ मे नही आती थी। दूसरी ओर पार्थिव धरातल पर एक तात्कालिक रुझान मेरे अन्दर अवश्य कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ने की थी, परन्तु जीवन के और अधिक गहरे प्रश्न मेरे मन में उठते रहते थे और उनका समाधान मुझे कम्युनिस्ट दर्शन मे नही मिलता था। उस समय मेरी स्थिति त्रिशंकु जैसी थी। कम्युनिस्ट लेखक मुझे पूरी तौर पर कम्युनिस्ट न मानते हुए सन्देह की दृष्टि से देखते थे और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के पक्षधर नये रचनाकार मुझे कम्युनिस्ट मान कर अपनी परिधि के बाहर मानते थे। मैं बहुत कुछ अपनी मूल्य-दृष्टि और मूल्य बोध का निर्माता स्वयं था और निरा एकाकी।" इस एकाकीपन ने नरेश जी के अन्दर एक गहरी संकल्पशक्ति का निर्माण किया। प्रगतिशील लेखक सघ से तो वे अन्ततः अलग हो ही गये।

इसी मानसिक अवस्था में नरेश जी का ट्रान्सफ़र सन् ५२ में नागपुर मे हुआ। उसी समय नरेश जी का परिचय गजानन माधव मुक्तिबोध से हुआ। यह परिचय जिसका प्रारम्भ बहुत अनुकूल नहीं था, बाद मे गहरे आत्मीय सम्बन्ध में विकसित होता चला गया। नरेश जी किसी भी लेखक या कवि के व्यक्तित्व से उतना प्रभावित नहीं हुए दीखते हैं जितना वे मुक्तिबोध के सरल निश्छल आत्मीयता से हुये हैं। मुक्तिबोध की स्मृतियाँ उनके जीवन की कोमल-

नम स्मृतियाँ हैं। एक साहित्यकार किसी दूसरे साहित्यकार को कितना गहरा अपनापन दे सकता है यह नरेश जी से मुक्तिबोध से जुड़े हुए संस्मरणों को सुनकर ही पता चल सकता है। उन्होंने एक बातचीत में मुझे बतलाया—"मुक्तिबोध से मेरा सम्बन्ध घृणा से शुरू हुआ था। परन्तु वह घृणा एकदम गहरे स्नेह में बदल गयी। पूरे एक वर्ष तक मेरा और मुक्तिबोध का दिन में १८-२० घंटे साथ रहता था। हम लोग साहित्य सृजन के विविध पहलुओं पर घंटों बातें करते रहते थे। मेरी Tragedy बहुत कुछ वही है जो मुक्तिबोध की *Tragedy* है। वे मूलतः संकल्प-विकल्प के कवि हैं। उनका कवित्व महान् है परन्तु उपलब्धियाँ छोटी हैं। रचना से अधिक रचनाकार की ईमानदारी मुक्तिबोध की शक्ति है।"

नागपुर के रेडियो की नौकरी के कालखण्ड की सबसे बड़ी उपलब्धि नरेश जी के लिए मुक्तिबोध का गहरा साहचर्य ही कहा जा सकता है। परन्तु सन् ५३ में उन्हें रेडियो की नौकरी से त्याग-पत्र देना पड़ा। कारण राजनैतिक था। तत्कालीन सूचना और प्रसारण मंत्री प० बालकृष्ण केसकर ने नरेश जी को बुलाकर समझाना चाहा कि वे राजनैतिक चिन्तन और गतिविधियों से अपने को अलग कर लें। नरेश जी ने स्पष्ट कह दिया कि साहित्यकार को स्वतन्त्र चिन्तन का पूरा अधिकार है। वे नौकरी छोड़ सकते हैं परन्तु चिन्तन नहीं। और सचमुच नौकरी छोड़नी पड़ी।

अब तो काम के नाम पर लेखन और राजनीतिक गतिविधियाँ ही बचीं। ५४ से ५६ तक मुख्य रूप से दिल्ली में अपने चचेरे भाई श्री नंदकिशोर भट्ट के साथ रहे जो अब संसद-सदस्य हैं। इस कालखण्ड में मुख्यतः लेखन कार्य ही उनका प्रधान कर्म था। कुछ दो एक छोटे मोटे काम भी किये, परन्तु किसी काम से स्थाई रूप से जुड़ना सम्भव नहीं हो सका।

रेडियो की नौकरी की अवधि में नरेश जी का लखनऊ का जीवन भी बहुत महत्त्व का रहा। वहाँ प्रगतिशील लेखकों से उनका सम्बन्ध बना। यशपाल, अमृतलाल नागर आदि उनमें प्रमुख थे। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण घटना नरेश जी के अन्तरंग जीवन में घटी। उनका प्रेम एक महिला से हुआ। प्रेम, विवाह की मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते रह गया। अन्ततः उस महिला ने आत्महत्या कर ली। इस आघात ने नरेश जी को आपादमस्तक हिला दिया। शायद जीवन के आगे के विकास और निर्माण में इस घटना का बहुत बड़ा योग रहा होगा। प्रेम को लेकर नरेश जी की पूरी मानसिकता में एक मूलभूत बदलाव आ गया। जब दिल्ली में उन्हें व्यवस्थित करने के क्रम में उनके विवाह की

बात चली तो उन्हें यह बिल्कुल भी नहीं लगा कि विवाह उसी लड़की से होना चाहिए जिससे प्रेम हो। उन्होंने एक पूर्ण अपरिचिता लड़की से विवाह की सहमति दे दी। और इतना ही नहीं कि महिमा जी उनकी पत्नी बनी वरन उन्होंने पत्नी से प्रेमिका का दर्जा भी हासिल किया। बहुत बाद में एक बार 'धर्मयुग' में नरेश जी ने लिख भेजा था कि प्रेम के बाद विवाह एक नरक का सृजन करता है और विवाह के बाद प्रेम स्वर्ग का। उनका यह कथन उनकी विशेष मानसिक बनावट का ही द्योतन करता है। और अवश्य लखनऊ में उनके प्रेम की उस दारुण परिणति का उस मानसिकता के निर्माण में गहरा हाथ है।

लखनऊ की इस दुखान्तिकी की रचनात्मक परिणति एक उपन्यास रचना के रूप में हुई। नरेश जी की प्रथम औपन्यासिक रचना 'डूबते मस्तूल'—बहुत कुछ उसी दुर्घटना से प्रेरित होकर लिखी गई थी। उस उपन्यास से नरेश जी को सन्तोष नहीं है। एक तो उसके रंजना की जो दुर्गति हुई है या कराई गई है उसे लेखक स्वाभाविक नहीं मानता। दूसरे उस उपन्यास की संरचना बहुत कुछ आरोपित है। लखनऊ के लेखक मित्रों को नरेश जी ने उपन्यास के प्रारम्भिक अंश को सुनाया। उन लोगों की प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होकर नरेश जी का यह उपन्यास अपनी मूल कल्पना से बहुत दूर छिटक गया।

इसी दौर से अज्ञेय से अपने सम्पर्क का बड़ा ही मार्मिक संस्मरण नरेश जी ने मुझे सुनाया। "प्रयाग में 'डूबते मस्तूल' की पांडुलिपि अज्ञेय जी मुझसे प्रकाशित कराने के लिए ले गये। उनका प्रभामण्डल ज़बरदस्त था। यह घटना सन् ५२ की है। बहुत दिनों तक उसका जब कुछ पता नहीं चला तो मैं दिल्ली अज्ञेय जी के पास गया। वहाँ पर उनके साथ 'थाट' पत्रिका के सम्पादक रामसिंह तथा कपिला जी थीं। मेरे जाने पर उन्होंने पूछा ' 'कैसे ?' मैंने कहा 'वह पाण्डुलिपि ?' वे उठे। पाण्डुलिपि घर के अन्दर से लाये और वापस कर दिये। आगे कोई बात नहीं हुई। मैं वापस चला आया। उसके सत्ताईस वर्ष बाद अज्ञेय के कहने पर कि घर नहीं चलेंगे मैं दिल्ली में उनके निवास पर सन ७९ में जा सका।"

अपने स्वभाव के बारे में नरेश जी बार-बार कहते हैं कि 'उनमें सदा एक हताशा का भाव रहा है। भाग्य ने उन्हें कुछ भी नहीं दिया। सदा एक कठोर और गहरे संकल्प के सहारे ही वे जीवन में क़दम-क़दम आगे बढ़ते रहे' सन् ५४ में 'डूबते मस्तूल' को आत्माराम एण्ड सन्स ने छापा। नरेश जी स्पष्ट कहते हैं कि यह कृति दूसरों के प्रभाव में नष्ट हो गई। दिल्ली में नरेश जी का

सम्बन्ध निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती और रामकुमार से हुआ। कृष्णा सोबती को तो वे बहुत विशिष्ट बान्धवी मानते हैं। कृष्णाजी नरेश जी के साथ एक लेखकीय आत्मीयता से अर्से तक जुड़ी रही और उनकी यह मैत्री नरेश जी के लिए एक महत्त्वपूर्ण निधि थी। दिल्ली में मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मनोहर श्याम जोशी, सुरेश अवस्थी, नेमिचन्द्र जैन और श्रीकान्त वर्मा आदि से भी काफी घनिष्ठता रही। प्रमुख कार्य 'कृति' पत्रिका का सम्पादन माना जा सकता है।

"दिल्ली में यूँ तो अधिकतर चचेरे भाई श्री नन्दकिशोर भट्ट एम० पी० के साथ ही रहा और वे ही एक प्रकार से संरक्षक से बन गये थे, परन्तु कुछ समय आई० एन० टी यू० सी० के कार्यालय में, कुछ समय तक गान्धी स्मारक से जुड़े रहे। विवाह तो भाई ने इसीलिए करवाया ही था कि मैं अपनी आवारगी से मुक्त होकर एक संतुलित पारिवारिक जीवन की सीमाओं में बंधू और उसके दायित्वों को पूरा करूँ।" विवाह के प्रसंग में नरेश जी ने एक विचित्र तथ्य का उद्घाटन किया। वे कहने लगे : "मेरा तो निश्चित मत था कि विवाह जाति की सीमा तोड़ कर करूँगा और प्रेम के आधार पर करूँगा परन्तु हुआ यह कि विवाह जाति के भीतर हुआ और बिना प्रेम की पृष्ठभूमि के हुआ और मेरी पूरी सहमति से हुआ।" जैसा मैंने कहा कि लखनऊ का प्रणय-प्रसंग तथा उसका कारुणिक अन्त नरेश जी के भीतर अवश्य ही एक गहरा घाव कर गया होगा। इसी कारण वे उस आग्रह से अपने को मुक्त कर सके और जातीय व्यवस्था में विवाह के लिए चुपचाप सहमत हो सके।

दिल्ली का नरेश जी का जीवन जितना साहित्यिक नेतृत्व का रहा उतना साहित्यिक कृतित्व का नहीं। यह एहसास उन्हें क्रमशः गहराई से होता चला गया। महिमा जी से विवाहित होने पर वे और अधिक इस अनुभूति से परिचित होते गये कि उनका रचनाकार कहीं दबता जा रहा है और उनके भीतर का प्रचारक और नेता ही गतिशील होता जा रहा है। नरेश जी इस क्रम को शीघ्रातिशीघ्र उलट देना चाहते थे। परन्तु दिल्ली में यह सम्भव नहीं था। दिल्ली में उनका एक खास ढर्रा बन गया था। अन्ततः उन्होंने महिमा जी की राय से यह निश्चय किया कि दिल्ली छोड़कर इलाहाबाद चला जाये।

दिल्ली छोड़ कर प्रयाग में जाकर बसने का निर्णय नरेश जी के साहित्यिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय सिद्ध हुआ। वास्तव में सन् ५९ में प्रयाग में नरेश जी का आना उनके कृती जीवन का एक प्रकार से नवीन शुभारम्भ था। दिल्ली के मित्रों को बेहद बुरा लगा। नेमिचन्द्र जैन और श्रीकान्त वर्मा

आदि स्टेशन तक समझाते रहे कि यह "फैसला एक आत्म-घाती फैसला है, परन्तु नरेश जी अपने निर्णय पर दृढ़ थे। उनका निर्णय था कि डूबना ही हो तो प्रयाग में ही डूबेंगे। महिमा जी का सम्बल सबसे बड़ा सम्बल था। उन्होंने एक प्रकार से अपने पति के कृती हाथों को बल और दृढ़ता प्रदान करने का दायित्व ही संभाल लिया था। प्रयाग के प्रथम दो वर्ष आत्यन्तिक कठिनाई के वर्ष थे। यहाँ का जो भी साहित्यिक वातावरण था उसमें नरेश जी पूर्णतः एकाकी थे। 'परिमल' के साहित्यकार उन्हें कम्युनिस्ट मानते हुए विरोध-भाव रखते थे और कम्युनिस्ट साहित्यकार नरेश जी की प्रश्नाकुलता और जिज्ञासाओं के कारण उन्हें अविश्वसनीय समझते थे। इनके बीच से और इनके पार नरेश जी की दृष्टि क्षितिज पर आलोकित उस प्रकाश पुञ्ज में उलझी हुई थी जो निरन्तर उन्हें अपनी ओर खींच रहा था। संघर्ष उन्हें भीतर से मांजित कर रहे थे। बाहरी संघर्षों की पुञ्जीभूत सघनता उन्हें भीतरी उदात्तता में परिपूर्ण कर रही थी। यह एक अनोखा सिलसिला था। कोई काम नहीं। पति-पत्नी एक दूसरे को सहारा और सम्बल दे रहे थे और नरेश जी लिखते जा रहे थे, लिखते जा रहे थे। गाँव की भाषा का प्रयोग करें तो नरेश जी उन दिनों पानी पी-पी कर लिख रहे थे। रात-दिन लेखन कर्म चल रहा था। पुरानी कमी पूरी हो रही थी। बाहर के कटुतम अनुभव भीतर जाकर रूपान्तरित हो रहे थे। एक अजीब चुनौती भरा जीवन था। नरेश जी प्रयाग के साहित्यिक माहौल से अपने तालमेल की चर्चा करते हुए एक बार कहने लगे : 'कृति' में एक बार डा० धर्मवीर भारती पर कोई लेख छपा था जिसमें उनकी आलोचना थी। वह भारती को याद थी। प्रयाग में मेरे आने के दो महीने बाद ही भारती की नियुक्ति 'धर्मयुग' के सम्पादक पद पर हो गई। काफी-हाउस में उनसे भेंट हुई तो मैंने बधाई दी। भारती ने कहा मैं खूनी हाथों से हाथ नहीं मिलाता। मुझे अजीब लगा। एक बार तो 'परिमल' के एक सज्जन ने यहाँ तक कहा कि 'देखें तुम इलाहाबाद में रहते कैसे हो ?'

उन्हीं संघर्षों के दौरान एक बार रेडियो में प्रोड्यूसर की जगह खाली हुई। पन्त जी से उसके लिए 'आफ़र' भी मिला। नरेश जी के मन में लालच हुई। किन्तु नरेश जी ने जब यह प्रस्ताव अपनी पत्नी महिमा जी से किया तो उन्होंने बेलाग ढंग से इसे अस्वीकृत कर दिया . "आपने पहली नौकरी रेडियो की क्यों छोड़ी ? दिल्ली क्यों छोड़ी ? लिखते क्यों नहीं। सब कुछ से मन हटाकर केवल लिखने में ही अपने मन को क्यों नहीं लगाते ?" बस रास्ता साफ़ हो गया। नरेश जी खुले मन से स्वीकार करते हैं कि उन्हें लेखक और कवि रूप में उस

बिन्दु तक पहुँचाने में सबसे महत्त्वपूर्ण हाथ महिमा जी का रहा है।' फिर क्या था। लगातार लिखते चला गया। दिल्ली में शुरू की गई कितनी रचनाएँ आधी-अधूरी पड़ी थीं, उन्हें पूरा किया। 'यह पथ बन्धु था' २४, २५ दिनों में पूरा किया। ६१ की गर्मियों तक ७-८ पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ तैयार हो गई। अब प्रश्न उन्हें छपाने का खड़ा हुआ। अब तक तो मन में यह भाव था कि लिख ही नहीं पाता हूँ, अतः प्रकाशन की समस्या से गहराई से साक्षात्कार हुआ ही नहीं था। परन्तु अब यह प्रश्न मुँहबाये खड़ा था।" नरेश जी के लिए यह दौर एक नये प्रकार का अनुभव लेकर आया। लेखक और प्रकाशक का सम्बन्ध जो हर नये लेखक के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है अब नरेश जी के लिए सबसे बड़े प्रश्न के रूप में खड़ा था। लिखा तो, परन्तु उसे छापे कौन और किन शर्तों पर।

अपनी पाण्डुलिपियों को लेकर नरेश जी एक प्रकाशक से दूसरे प्रकाशक का द्वार खटखटाते रहे, परन्तु कोई भी पाँच सौ रुपया भी उनके लिए देने को तैयार नहीं हुआ। घर में विचित्र स्थिति थी। महिमा जी माँ बनने वाली थीं। घर में भूँजी भाँग नहीं। नरेश जी क्या करें? कहाँ जायें? स्वभाव में याचना नहीं थी लोगों से अपनी तकलीफ़ बतला कर द्रवीभूत करने वाली प्रवृत्ति भी नहीं थी। गहनतम संघर्ष की स्थिति थी। इसी बीच एक दिन श्री वाचस्पति पाठक आये। पाठक जी का साहित्य और साहित्यकारों के प्रति आत्मीयता का भाव विख्यात ही है। उन्होंने नरेश जी को तीन हज़ार रुपयों का अग्रिम देने का प्रस्ताव किया। नरेश जी ने पाठक जी का प्रस्ताव स्वीकार करके उन्हें अपनी सारी पाण्डुलिपियाँ अर्पित कर दीं। उसके बाद तो राजकमल प्रकाशन का भी आफ़र आया, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का भी पत्र आया। परन्तु नरेश जी ने पाठक जी से बात पक्की कर ली, सो कर ली। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर से नरेश जी को सब ३००० रु० प्राप्त हुए।

महिमा जी विवाह के पूर्व कानपुर में स्नातक कक्षाओं में समाजशास्त्र की प्राध्यापिका थीं। प्रयाग आकर उन्हें कोई स्थान कहाँ मिले, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। प्रयाग महिला विद्यापीठ में एक स्थान समाजशास्त्र की प्राध्यापिका का ख़ाली था, परन्तु वहाँ स्थान नहीं मिला। सम्भव है नरेश जी के मन में यह भाव रहा हो कि एक साहित्यकार की पत्नी होने के नाते महिमा जी के प्रति महादेवी जी के मन में विशेष आत्मीय भाव बन सकेगा, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बाद में महिमा जी को ६० रु० महीने में सी० टी० ग्रेड में अध्यापिका की नौकरी मिली परन्तु नरेश जी की सर्जना का पथ कुछ भी

सुकर हो सके इसके लिए महिमा जी कुछ भी करने को तैयार थीं। उन्होंने वह नौकरी इसी दृष्टि से स्वीकार की। पुत्र बाबुल के पाँच वर्षों बाद दूसरी सन्तान बुलबुल का जन्म हुआ। अब नरेश जी एक पूरे परिवार के स्वामी थे—पत्नी, एक पुत्र बाबुल और एक पुत्री बुलबुल। लेखक के रूप में और कवि के रूप में यूँ तो नरेश जी 'दूसरा सप्तक' के बाद ही विख्यात हो गये, परन्तु लेखन के आधार पर जीवन कैसा जीना पड़ता है, यह कोई व्यक्ति सरलता से नहीं समझ सकता। इन संघर्षों ने नरेश जी में कड़ुवाहट का भाव नहीं पैदा किया। यह क्यों और कैसे हुआ, इसे तभी समझा जा सकता है जब यह स्वीकार कर लिया जाये कि व्यक्ति का निर्माण बहुत अंशों में उन संस्कारों से होता है जो उसे अपने पूर्वजों से प्राप्त होते हैं। नरेश जी में एक निर्विकारता का भाव गहराता चला गया। न प्रतिक्रिया, न उपेक्षा। एक तटस्थ मात्र।

अब प्रयाग के 'लोकभारती प्रकाशन' का ध्यान नरेश जी की ओर गया। वहीं से बाद की उनकी सारी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, केवल 'संशय की एक रात' का प्रकाशन श्री सुरेश ग्रोवर ने किया। धीरे-धीरे नरेश जी को अपनी साहित्यिक कृतियों से हुई आय में रहने की स्थिति बनती गई। 'संशय की एक रात' कानपुर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में श्री गिरिराज किशोर के प्रयत्नों से निर्धारित हो गई। बाहर का यह संघर्ष ज्यों-ज्यों कम तीखा होता गया नरेश जी की मूल्य-दृष्टि और अधिक परिष्कृत होती चली गई।

इस बीच उनके और 'परिमल' के लोगों के बीच की खाई पटती गई। कम्युनिस्ट पार्टी से तो पूरी तौर पर सम्बन्ध विच्छेद हो गया। राजनीति के प्रति कोई रुझान फिर हुई ही नहीं। नरेश जी एक साथ ही कवि और गद्यकार के रूप में आगे बढ़ते गये। गद्य सम्भवतः उन्हें अपनी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन प्रतीत हुआ क्योंकि हिन्दी में उपन्यास जितना बिकते है उतनी कविता की पुस्तकें तो नहीं बिकतीं। परन्तु काव्य उनकी सर्जना की केन्द्रीय विधा बना रहा। सन ६२ से ७२ तक 'धूमकेतु एक श्रुति', 'नदी यशस्वी है' जैसे उपन्यासों का लेखन नरेश जी के लिए जहाँ उनकी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति का एक माध्यम रहा, वहीं उनके भीतर बैठे एक अनथक कथावाचक को चरितार्थ करने का उद्देश्य भी पूरा करता रहा। परन्तु नरेश जी की सर्जना के गहरे आयाम उनकी कविता में ही निसृत होते हैं।

●

दूसरा अध्याय

प्रेम और कविता

'दूसरा सप्तक' नयी कविता का आद्यसंकलन माना जा सकता है। 'तार सप्तक' में जिस प्रयोगशील काव्य परम्परा का प्रारम्भ हुआ, 'दूसरा, सप्तक' में उसे एक परिपाक मिला। मूल्य दृष्टि, संवेदना और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से 'दूसरा सप्तक' एक नये दौर की शुरुआत प्रस्तुत करता है। प्रयोगशीलता को एक निश्चित धरातल इस संकलन में मिलता है। भूमिका में ही अज्ञेय ने महत्त्वपूर्ण स्थापना की है :

"तो प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।" यह कहना अत्युक्ति नहीं माना जाना चाहिए कि 'तार सप्तक' से चलकर 'दूसरा सप्तक' तक कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जानने लगा है और अच्छी तरह अभिव्यक्त भी करने लगा है। 'दूसरा सप्तक' के कवियों में नरेश (कुमार) मेहता निश्चय ही एक विशिष्ट कवि हैं। इनकी कवि दृष्टि, इनकी अनुभूति की बनावट, इनकी भाषा और इनकी भंगिमा सभी कुछ विशिष्ट है।

जैसा प्रायः सभी कवियों के साथ होता है, नरेश जी भी अपने यौवन के प्रारम्भ में कविता का केन्द्रीय विषय प्रेम को मानते हैं। वास्तव में साहित्य सृजन की केन्द्रीय संवेदना प्रेम की संवेदना होती है। जिस प्रकार व्यक्ति प्रेम की गहन अनुभूति से उत्प्रेरित होता है और सृजन की मूल प्रेरणा वह अनुभूति बन जाती है, उसे अस्वीकार करना एक अर्थहीन बात है। भिन्नता आती है उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में। दूसरा सप्तक' की भूमिका में ही अज्ञेय ने आगे लिखा है—

"मूल राग-विराग नहीं बदले—प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा, यह साधारणतः स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ बदल गयी हैं।" निश्चय ही रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियों के बदलाव के साथ उसकी अभि-व्यक्ति का प्रकार भी बदल जाता है। नरेश मेहता के काव्य के विपुल भाण्डार को देखते हुए उनकी प्रेम सम्बन्धी कविताओं की संख्या कम है, बहुत ही कम। फिर भी क्या कारण है कि उनकी संवेदना का केन्द्रीय स्वर प्रेम का ही माना जाये? कविताओं की संख्या से कवि की संवेदना का मूलस्वर नहीं पहचाना जा सकता। उसकी पहचान प्रथमतः तो इस आधार पर होती है कि जो भी कविताएँ उन्होंने प्रेम की संवेदना को लेकर लिखी हैं उनकी सघनता कितनी है। दूसरे, उनकी अन्य सारी प्रेरणाओं का उत्स क्या है?

'दूसरा सप्तक' में संकलित उनकी पहली कविता ही पाठक को इतनी गह-राई से संवेदित करती है कि वह अवसन्न हो उठता है। एक स्मृति को जीवन्त रूप से पुनरुज्जीवित करने का प्रयास उस कविता में है। प्रियतम के साथ गोमती तट पर किसी वृक्ष की जड़ पर बैठ कर बिताये गए साथ के क्षण जीवन्त हो उठते हैं :

> "तुम यहाँ बैठी हुई थीं अभी उस दिन।
> सेब-सी बन लाल
> चिकने चीड़-सी वह बाँह अपनी टेक पृथ्वी पर यहाँ।
> इस पेड़ जड़ पर बैठ,
> मेरी राह में, इस धूप में।
> बह गया वह नीर,
> जिसको पदों से तुमने छुआ था।
> कौन जाने धूप उस दिन की कहाँ है,
> जो तुम्हारे कुन्तलों में गरम, फूली,
> धुली, धौली लग रही थी।
> चाहता मन
> तुम यहाँ बैठी रहो,
> उड़ता रहे चिड़ियों सरीखा वह तुम्हारा श्वेत आँचल,
> किन्तु अब तो ग्रीष्म,
> तुम भी दूर- औ ये लू।"

ये पंक्तियाँ मन में सीधे उतरती चली जाती हैं। एक नितान्त वैयक्तिक अनुभूति प्रत्येक पाठक को इतनी गहराई से चुभने लगे, यही उसकी उपलब्धि है। अपनी वैयक्तिकता के पार जाकर जब अनुभूति सार्वजनीन बन सके तो निश्चय ही उस रचना को एक सफल रचना कह सकते हैं। इस कविता में कवि की प्रेरणा सीधी एक प्रणयानुभूति में लदी हुई स्मृति है जब उसके साथ उसकी प्रियतमा पूरी तन्मयता के साथ गोमती के तट पर बैठी हुई थी। उसकी पूरी छवि पाठक के मन पर अंकित हो उठती है। उसकी लज्जा-युक्त सेब-सी लालिमा, चिकने चीड़-सी बाँह, चिड़ियों सरीखा उड़ता हुआ धवल आँचल कुन्तलों में फँसी हुई धूप—सभी कुछ। परन्तु उसी के बाद एक अजीब अवसाद उतर आता है, जब पाठक पढ़ता है : "किंतु अब तो ग्रीष्म। तुम भी दूर। ओ ये लू!" एक आत्मीयतम क्षण की कसक जो अब केवल स्मृति के सहारे जिया जा सकता है, पूरी कविता में व्याप्त हो जाती है। जो अवसाद अन्तिम पंक्तियों में भर उठता है वह पूरी कविता को एक आत्यन्तिक गहराई दे जाता है।

'दूसरा सप्तक' में संकलित कविताओं में यह अकेली कविता नरेश जी की प्रेम से सम्बन्धित है। परन्तु यही उनकी सबसे सघनतम अनुभूति की कविता उस संकलन की है। यह विचारणीय प्रश्न हो सकता है कि जो अनुभूति कवि के जीवन की इतनी घनीभूत अनुभूति है उसकी अभिव्यक्ति इतनी कम क्यों है?

इस प्रश्न के समाधान की अनेक सरणियाँ नरेश जी के जीवन में ढूँढ़ी जा सकती हैं। उनके अनेक आयाम हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम को ही लें तो कह सकते हैं कि प्रेम उनके व्यक्तित्व में घुलता चला गया है और अनेक उदात्त तर रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। जैसे भक्त कवि मूलतः प्रेम के कवि ही हैं। प्रेम ही उनके जीवन में घुलकर उनकी नसों में भक्ति बन कर फूटा है। उसी प्रकार नरेश जी की बाद की वे सारी रचनाएँ जिनमें विशाल वानस्पतिकता की अनुभूति से जुड़ते हैं, जिनमें धरती की सर्जनात्मकता, ऊषा की मांगलिकता, सूर्य की तपश्चर्या, फूल में मनुष्य की प्रार्थना की सुगन्ध की पहचान, गन्ध का रासोत्सव अपनी विविधता में अभिव्यक्ति पाती है, इसी प्रेमानुभूति का रूपान्तरण होती है।

प्रेम का यह उन्नयन नरेश मेहता के व्यक्तित्व में किस प्रकार होता है? इसके कारणों में जाने पर सबसे अधिक महत्त्व तो उन संस्कारों का है जिनका अस्तित्व नरेशजी के व्यक्तित्व में अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में मिला है। किन्तु उससे हट कर जो नितान्त व्यक्तिगत पक्ष प्रतीत होता है, वह उस प्रेम-प्रसंग से उद्भूत होता है, जिसका दारुण अन्त लखनऊ में होता है। जैसा

पहले कहा जा चुका है कि नरेश जी के प्रथम प्रणय का एक गहरे दुखान्त के रूप में अन्त हुआ और उनकी प्रियतमा जो उनकी परिणीता नहीं बन सकी और अन्ततः आत्महत्या के द्वारा अपना अन्त कर ली, नरेश जी के जीवन की एक दारुण घटना सिद्ध हुई। इस घटना ने नरेश जी जैसे संवेदनशील व्यक्ति के जीवन में जिस गहनतम व्यथा को उतारा होगा, उसकी कल्पना ही की जा सकती है। उनका प्रभाव उनकी पूरी मानसिकता पर कितना गहरा पड़ा होगा, इसका सहज ही अनुमान नहीं हो सकता। नरेश जी की एक रचना की ये पंक्तियाँ इस भाव को स्वायत्त करने में संकेतक का काम करती है :—

"वरण करो ओ मन !
वहन करो पीड़ा
× × ×
सृष्टि प्रिया पीड़ा है
कल्पवृक्ष दान समझ
शीश झुका स्वीकारो
ओ मन करपात्री !
मधुकरी स्वीकारो।"

यह पीड़ा को आत्मसात करने का व्रत और मन को करपात्री बनाकर पीड़ा की मधुकरी को स्वीकारते चले जाने का भाव निश्चय ही नरेश जी के जीवन की उस दारुणतम अनुभूति से ही जनमा हुआ भाव प्रतीत होता है।

जब व्यक्ति के संस्कार बहुत उदात्त हो और जब जीवन में इस प्रकार की दारुण घटना घट जाये तो उसे अपनी निजी रागानुभूति को व्यापकतर संदर्भ में उन्नीत करने का स्वस्थतम विकल्प ही सहारा दे सकता है। नरेश जी ने यही किया है। इसीलिए उन्होंने प्रेम की कविताओं में अपने में बहुत कुछ बचाया है। परन्तु क्या वे नहीं जानते कि उनकी अधिकांश कविताएँ इसी प्रेम की विराट्तर अभिव्यक्ति है ? जहाँ ऐसा नहीं हो सका है और वे कविताएँ जो इस दारुण स्थिति के पूर्व की हैं निश्चय ही नरेश जी के कोमलतम भावों की सघनतम अभिव्यक्ति है। इस रचना को देखें :

"आओ इस झील को अमर कर दें
छू कर नहीं
किनारे बैठ कर भी नहीं

एक संग झाँक इस दर्पण में
अपने को दे दें हम
इस जल को
जो समय है।"

यह छोटी-सी कविता कितनी बहुआयामी है। त्रिपार्श्व में जैसे श्वेत प्रकाश सतरंगा इन्द्रधनुष बन कर दीप्त हो उठता है, वैसे ही झील के किनारे बैठा हुआ युगल अपनी अनुभूति की तन्मयता झील को अर्पित करके उसे ही अमरत्व प्रदान करने की कल्पना करता है। अपनी अनुभूति की अद्वितीयता पर इतना चरम विश्वास ध्वनित होता है इन पंक्तियों में। और तुरन्त झाँकता हुआ युगल दर्पण में अपनी प्रतिच्छवि देखता ही है कि उसे लगता है कि यह जल साधारण झील का जल नहीं वरन् शाश्वत समय का प्रवाह है। क्षण की अनुभूति विराट् काल प्रवाह से जुड़ कर शाश्वत और अनन्त बन जाती है। क्षणानुभूति अमर हो जाती है। पाठक केवल चमत्कृत ही नहीं होता है, वह अभिभूत हो उठता है।

कवि लगातार जीवन भर अपने प्रेम को ही पचाता रहता है। उसका ही सर्जनात्मक रूपान्तरण करता रहता है। एक कविता में उन्होंने लिखा है :

"हे अननुगामिनि ! अनुस्यूता बनो
है घिरी प्राचीर में यदि देह
हो गया यदि सत्य जीवन का विभाजित
भाव तो उन्मुक्त
लता मण्डप-सा उसे ही फैलने दो
× × ×
स्नेह, यह विरह का मूर्ख पाखी है
जो उड़ेगा और उड़ता ही रहेगा।"

प्रेम को आभ्यन्तरित करके उसे सत्यतर और व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करने का एक निरन्तर चलने वाला यज्ञ नरेश मेहता के काव्य-जगत का सबसे केन्द्रीय सत्य है। यूँ छायावादी और उत्तर छायावादी कविता की रूमानियत की प्रवृत्ति तो नरेश मेहता की कविता में प्रायः नहीं के बराबर है।

जीवन के नये अर्थों और नये आयामों की तलाश में ही कवि अपने रचना-काल के प्रारम्भ में ही लग जाता है। संस्कृति की विशद भूमि उसे अपने में रमाने लगती है। प्रारम्भिक कविताओं में ही वह ऋतु की नित्य-कौमार्य कन्या ऊषा का आह्वान करते हुए संस्कृति की शोध का व्रत ले लेता है। धीरे-धीरे

वैयक्तिक रागानुभूति एक विस्तृत और उदात्ततर भूमि पर अवस्थित होती चली जाती है।

नरेश मेहता की कविता में प्रेम की इस गहरी अन्विति को आत्मसात करने के लिए उनकी संस्कृति प्रिया समूची काव्य-दृष्टि को आत्मसात् करना पड़ेगा, प्रकृति के साथ उनके गहरे तादात्म्य को आत्मसात् करना पड़ेगा और समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त उस विराट चेतना से उनके रागात्मक सम्बन्ध को आत्मसात् करना पड़ेगा।

नयी कविता की संवेदना के विविध आयामों पर जब दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट ही स्वीकार करना पड़ता है कि उसका एक केन्द्रीय आग्रह रूमानियत के अस्वीकार का रहा है। छायावादी कविता का केन्द्रीय स्वर रूमानी स्वर है। अपनी वैयक्तिक प्रणयानुभूति को वाणी देना उसका पहला सरोकार लगता है। प्रसाद की 'आँसू' काव्य मूल्यों में एक विद्रोह के रूप में प्रकाशित हुई थी। चारों ओर लोग 'आँसू' के पदों को गुनगुना कर अपनी रागात्मिका वृत्तियों को सन्तुष्ट करते थे।

'रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।'

जैसे पद प्रत्येक काव्य-पाठक की जबान पर तैरते रहते थे। द्विवेदी युग की पवित्रतावादी इतिवृत्तात्मक रचना-दृष्टि के रूखे-सूखे धरातल पर यह काव्य-दृष्टि प्राण रस प्रदान करने वाली प्रतीत हुई।

अज्ञेय तक आते-आते यह रूमानियत अपना जादू बहुत कुछ खो चुकी थी। बच्चन ने इसकी अभिव्यक्ति में जिस साफगोई और सपाट बयानी का सहारा लिया उसने इसकी अगली सम्भावनाओं को और भी समाप्त कर दिया था। दूसरे, युग के मूल्य भी व्यापक स्तर पर बदल रहे थे। नये प्रश्न नई अर्थवत्ता के साथ खड़े हो रहे थे। पूरा विश्व व्यक्तिवादी मूल्यों और समष्टिवादी आग्रहों के बीच एक विचित्र तनाव की स्थिति में विभाजित होता जा रहा था। राजनीतिक स्तर पर तो यह विभाजन पूर्ण और निर्दिष्ट स्तर प्राप्त कर ही चुका था, सृजनात्मक धरातल पर भी इसकी अनुभूति तीखी होती जा रही थी। अज्ञेय की कविता का एक मूल आग्रह व्यक्ति और समाज के पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों की स्वस्थ तलाश का ही है। रूमानियत के लिए उतना अवकाश भी

नहीं था। 'तारसप्तक' के कवियों में केवल गिरिजाकुमार माथुर ही कई अर्थों में रूमानियत के कवि कहे जा सकते है और एक हद तक 'भारती।'

'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन तक तो सन्दर्भ और भी व्यापक हो चुके थे। देश में चिर प्रतीक्षित स्वतंत्रता अवतरित हो चुकी थी। युगों के सपने चरितार्थ या अचरितार्थ होने जा रहे थे। जहाँ एक ओर बहुत से रचनाधर्मी व्यक्तित्व आस्था का सम्बल लिए अपनी रचनाधर्मिता में आशावादिता का आग्रह प्रदर्शित कर रहे थे जैसे अज्ञेय, वहीं बहुत से लोग मोहभंग की स्थिति में भी आ रहे थे जैसे मुक्तिबोध। अज्ञेय की गणतंत्र-दिवस पर लिखी कविता का उल्लेख किया जा सकता है जिसमे वे अपने को 'आलोक मंजूषा' समर्पित करते दिखते है। परन्तु स्वतंत्रता के कुछ ही दिनों बाद बहुत ही तेजी से मूल्यो का बिखराव और स्वप्नभंग का दौर शुरू हुआ। परिणामत दो स्थितियाँ सामने आईं। कुछ कवि तो उस ह्रास, कुंठा और स्वप्नभंग को व्यंग्य और नैराश्य के स्वरों में उतारने लगे। कुछ रूमानियत के अवशेषो में भटकते हुए अन्ततः चुक गये, परन्तु कुछ थोड़े से सृजन धर्मा कवि क्रमशः बृहत्तर संवेदना के साथ जुड़ते चले गये। उनके व्यक्तित्व में तात्कालिक सारे प्रश्न एक विराट् और सार्वकालिक चिरन्तन संदर्भ में एकीभूत होकर नये रसायन के रूप मे प्रकट होने लगे। नरेश मेहता निश्चय ही उस अन्तिम श्रेणी में आते है। रूमानियत का छिछला उच्छ्वसित स्वर तो उनमें कहीं दिखता ही नहीं है। प्रेम जीवन मे उतरता है तो पूरी सघनता के साथ उसे घेर लेता है। रचना में भी फूटता है, परन्तु शीघ्र ही वह एक विराट् मंगलमयी अनुभूति में रूपान्तरित होने लगता है। नरेश मेहता की परिणति बहुत कुछ मध्यकाल के भक्त कवियो की भाँति ही होती है, परन्तु उसका आयाम अत्यन्त भिन्न है क्योंकि वे आधुनिक चेतना और आधुनिक परिवेश मे पूरी तौर पर संपृक्त है। उनमे इसीलिए रूमानियत की वह कैशोर्यपूर्ण अभिव्यक्ति प्राय नहीं मिलती जो धर्मवीर भारती की प्रारम्भिक कविताओं में भरी पड़ी है। प्रेम और राग का जितना उच्छ्वसित स्वर भारती की कविताओं में सुनाई पड़ता है, उतना अन्य किसी नये कवि में नहीं। परन्तु यही स्वर उन्हें नयी कविता की आधुनिक भूमि से पीछे भी ले जाता है। नरेश इस अर्थ में काफ़ी नये लगते हैं, आधुनिक लगते हैं। 'दूसरा सप्तक' के अपने वक्तव्य में वे कहते भी है : "नया तो मेरा युग है, मेरी प्रकृति है, तथा सबसे नया मैं हूँ।"

●

तृतीय अध्याय

रोटी और कविता

जैसा पहले अध्याय में स्पष्ट रूप से ध्वनित है कि नरेश मेहता के छात्र-जीवन का उत्तरार्द्ध अत्यन्त ही संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में व्यतीत हुआ। अभाव और यातना का इतना मर्मान्तिक दौर किसी भी व्यक्ति को भौतिकता के प्रति आग्रही बना देगा। साथ ही उसमें एक गहरा प्रतिशोध का भाव भी भरेगा। नरेश जी इन दोनों परिणतियों से बच निकलते हैं। बच नहीं निकलते वरन् पूरी वेगवत्ता के साथ वे इनसे ऊपर उठते जाते हैं। फिर भी सामान्य मनुष्य की सामान्य जरूरतें नरेश जी की भी जरूरतें हैं। उन्हें भी पेट खाली रहने पर पीड़ा हुई होगी। उन्हें भी अपने भव्य कायिक व्यक्तित्व को अच्छे परिधान में सवलित करने की कांक्षा ने ललचाया होगा। वे भी अच्छे से निवास में रहने की कामना करते रहे होंगे। मनुष्य होने का सामान्य अर्थ उनके लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा। तभी तो उनका झुकाव प्रारम्भ में उन लोगों की ओर हुआ जो शोषण और असमानता के विरुद्ध अपने को प्रतिबद्ध मानते थे। नरेश जी का प्रगतिशील लेखकों और साहित्यकारों से जुड़ना जहाँ एक ओर उनकी समतावादी शोषण-मुक्ति की आकांक्षी दृष्टि का परिणाम रहा होगा, वहीं उनके निजी अभावों और उनकी निजी यातनाओं का भी उसमें अवश्य हाथ रहा होगा। परन्तु अपनी निजी यातनाओं और अभावों तथा कम्युनिस्ट लेखकों के साथ के बावजूद नरेश जी एक कट्टर कम्युनिस्ट लेखक नहीं बन सके, भौतिकता के प्रति उनका आग्रह भी एक सीमा के बाद नहीं टिक सका। उनकी रचनाधर्मिता ही उनकी केन्द्रीय प्रेरणा बनी और उसके केन्द्र में पार्थिव अभाव और वर्ग-संघर्ष कभी भी अवस्थित नहीं हो सके। नरेश जी ने एक बातचीत के दौरान यह रहस्योद्घाटन किया कि अपने नागपुर के दिनों में उनकी मुक्तिबोध से जो लगातार बातचीत चलती रहती थी, उसमें कई-कई बार कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकल आता था। ऐसे ही एक प्रसंग की चर्चा

करते हुए उन्होंने बतलाया कि मुक्तिबोध ने एक बार कहा कि 'पार्टनर, आपकी राजनीतिक कविताएँ उतनी अच्छी नहीं है।' नरेश जी ने स्वीकार किया कि यह सच बात है। और इतना ही नहीं उन्होंने अपने अन्तरतम में यह महसूस किया कि राजनीतिक कविता की दिशा उनकी दिशा है ही नहीं। उसके बाद उन्होंने कभी भी राजनीतिक कविताएँ लिखी ही नहीं।

सचमुच नरेश जी के विशाल काव्य भण्डार में से पार्थिव संघर्षों पर लिखी कविताएँ प्राप्य हैं ही नहीं। उन्होंने लिखा भी होगा तो स्वयं उन्हें अपनी काव्य-सम्पदा से हटा दिया है। रोटी के लिए संघर्ष उन्होंने लगातार किया है, एक अर्थ में आज भी कर रहे हैं, परन्तु रोटी पर कविता उन्होंने नहीं लिखी। जब आज के कवि बड़े ही आक्रोश में आकर सामाजिक असमानता और शोषण को विषय बना कर अपनी सर्जन-शीलता की धार तेज करते हैं, तो उन्हें लगता है कि नरेश मेहता एक अयथार्थवादी, स्वप्नदर्शी कवि हैं। उन्हें ही नहीं अन्य संवेदनशील कवि भी उन्हें स्वीकार पाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। उन्हें लगता है कि नरेश मेहता एक ऐसे भावलोक में विचरण करते हैं जो सांसारिक अनुभूतियों से परे हैं। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना समीचीन होगा कि कवि की संवेदना की परिधि का प्रसार कितना वृहद हो सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं। जब दृष्टि-फलक इतना विस्तृत हो जाय कि समूचा ब्रह्माण्ड उसकी परिधि में गोचर होने लगे, जब लगे कि कोई पारमार्थिक सत्ता समूचे जडचेतन जगत् में प्रतिक्षण उपनिषद की रचना कर रही है, जब फूल मंत्र लगने लगें तब मनुष्य अपनी पीड़ा के ऊपर चला जाता है। तब यातना तप बन जाती है, अभाव समिधा बन जाता है। सारा समवाय एक विराट् सत्ता का सहयोगी अंश प्रतीत होने लगता है और रोटी का सवाल उतना बड़ा सवाल नहीं लगता। इस सवाल से सर्जनात्मक स्तर पर टकराने वाले मित्रों से अल्विदा करना पड़ता है। नरेश जी की निम्न कविता का महत्त्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है :

हम झुका कर माथ
सब स्वीकार लेंगे,
पर, पथ यहाँ से अलग होता है।
जो देय था वह दे चुके
जो गेय था छन्दित चुके
हम मानते   है तुम्हें

पर क्या करें
रख नहीं सकते क्षितिज पर
एक भी सोपान।
यह नभ यहाँ से अलग होता है
पर यहाँ से अलग होता है
राजपथ रथ के लिए
पगबाट है पग के लिए
सब मार्ग की अपनी दिशा
अपने क्षितिज
हम क्या करें?
आग्रह करो मत
इस तुम्हारे द्वार को ही मान लें भगवान
यह जन यहाँ से अलग होता है
पथ यहाँ से अलग होता है।"

निश्चय ही नरेश जी ने उन लोगों से पार्थक्य की नियति को खुले मन से स्वीकार कर लिया, जिनकी दृष्टि पार्थिवता के आगे जाने में असमर्थ थी, क्योंकि नरेश जी की दृष्टि पार्थिवता में बँधी रहने में असमर्थ थी।

एक बार मैंने उनसे उनके कम्युनिस्ट बनने के रहस्य को जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मैं राजनीति में कांग्रेस के विरोध में रहने के क्रम में ही कम्युनिस्ट बना था। उन्होंने उसी क्रम में स्वीकार किया कि एक कवि या लेखक के रूप में तो वे कम्युनिस्ट थे ही नहीं। उनकी दृष्टि में वह काल रोमैण्टिक कम्युनिस्टों का काल था। नरेश जी की दृष्टि में मुक्तिबोध भी वैसे ही कम्युनिस्ट थे। सचमुच नरेश जी जब कम्युनिस्ट थे तब भी वैदिक कविताएँ लिखते थे। भला कम्युनिस्ट लोग इसे कैसे पचाते? उसी क्रम में नरेश जी ने कहा था, "जैसा मेरा जीवन कठोर संघर्ष का जीवन रहा उस तर्क से मुझे कठोर कम्युनिस्ट ही होना चाहिए था, पर मुझमें स्थितियों से टकराहट तो है परन्तु उसकी व्यर्थता का बोध भी है। इसीलिए मुझमें धीरे-धीरे एक अनासक्त भाव आता चला गया। राजनीति का स्थान मेरे व्यक्तित्व में सृजनात्मकता ने ले लिया।"

काव्य का विषय युगानुसार बदलता रहा। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति तो प्रारम्भ से ही उसकी केन्द्रीय प्रवृत्ति रही और युग-युग से कविता, कला और सृजन की अन्य विधाओं में इसकी अभिव्यक्ति होती रही है। परन्तु समय

के साथ-साथ जो संवेदना का व्यापक प्रसार हुआ और विराट्ता के साथ लघुता का मेल-जोल शुरू हुआ तो धीरे-धीरे अन्य विषय काव्य का विषय बनने लगे। प्रकृति भी प्रारम्भ में ही मनुष्य की सर्जनात्मक मनीषा को छेड़ती और संवेदित करती रही है। परन्तु अपनी शारीरिक यातना को विशेष कर भूख और शोषण को कविता का विषय बीसवी शताब्दी के पूर्व प्राय: नही बनाया गया है। छायावादी कविता और छायावादोत्तर काव्य भी प्राय: मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियों से ही अपना पोष्य प्राप्त करती रही। इधर स्वतन्त्रता के पश्चात् खास कर एक कवियों का ऐसा वर्ग दिखने लगा जो सामाजिक विषमता आर्थिक शोषण, मनुष्य की गरीबी, उसकी यंत्रणा को अपनी कविता का विषय बनाने में गौरव का अनुभव करता है। उसका ऐसा विश्वास है कि इस यातना को वाणी देकर वह एक ऐसी मनुष्यता के निर्माण की ओर पहल कर रहा है जिसमे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण और उत्पीड़न नहीं होगा। चूँकि कार्ल मार्क्स ने एक विराट् वैचारिक भूमि इस शोषण की प्रक्रिया को समझने और समझाने की प्रस्तुत की तथा पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे इस शोषण और उत्पीड़न की परम्परा को उन्होंने परिभाषित किया अत काव्य की भूमि पर भी उसका प्रभाव दिखने लगा। जीवन के इस दुःखद पक्ष को एक वैचारिक आधार मिलते ही कवियों मे मार्क्सवादी चिन्तन की एक रुझान बनने लगी। हिन्दी में ऐसे कवियों का एक वर्ग ही उभर आया जो गर्व से अपने को मार्क्सवादी कहते थे। गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर आदि। अपनी युवावस्था में नरेश मेहता इन्ही मार्क्सवादी कवियों और मार्क्सवादी चेतना से संबद्ध हुए। उन्हे भी लगा कि यह समाज एक गहरे शोषण के चक्र में फंसा है। कुछ सुविधा और साधन सम्पन्न लोग देश की सारी पूँजी और सत्ता को हथियाये हुए है और उससे छुटकारा पाने का कर्त्तव्य एक महनीय कर्त्तव्य है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि मार्क्सवादी कवियो के साहचर्य मे एक कम्युनिस्ट कवि के रूप मे दीक्षित होकर भी नरेश मेहता न तो प्रामाणिक कम्युनिस्ट ही बन पाये और न उनकी कविता की विपुल राशि में से उस रुझान की अधिक रचनाएँ ही निसृत हो सकीं। कुल मिलाकर वह कालखण्ड उनके लिये रचना की दृष्टि से एक बंजर कालखण्ड है। वे सम्पादक के रूप में अधिक मुखर थे। साहित्यिक नेतृत्व अधिक कर रहे थे परन्तु रचना का स्रोत जैसे सूखा पड़ा था। और जब वे सचमुच रचनोन्मुख हुए तो कम्युनिज्म उनसे फिसलने लगा। इसका कारण जैसा पहले भी संकेत किया है उनकी संस्कारिता में

है। वे मूलतः उस भारतीय संस्कार में जन्मे और पले हैं जिसकी जड़ें अहिंसा में हैं, प्रेम में है और उदात्तता में हैं। हिंसा, प्रतिशोध और संकीर्णता का संस्कार उनका नहीं है। ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन आर्ष-साहित्य की गहराइयों में उतरने लगा, उन्हें अपनी वास्तविक पहचान मिलने लगी और सारे सत्य जो उनके जीवन के कटु अनुभवों से, उनकी शारीरिक यातना से, उनके अभाव से उन्हें प्राप्त हुए थे एक नया आधार प्राप्त करने लगे। उन्हें लगा कि दुःख उठा कर, उत्पीड़ित होकर और अभावों की यातनामयी पीठिका पर खड़ा होकर भी इस विश्व की मांगलिक छवि को अपनी आँखों में उतारा जा सकता है इस सृष्टि की उदात्त भूमि पर संचरण किया जा सकता है। उसका अपना ही आनन्द है और अपनी ही सिद्धि है। इसी बिन्दु पर आकर वे बहुतों को अप्रामाणिक लगने लगते हैं। उन्हें लगता है कि जीवन का जो रूप वे प्रस्तुत करते हैं वह वास्तविक नहीं है, उसमें सच्चा अनुभव नहीं है वह केवल एक वैष्णवी मुद्रा है, उनकी सारी कविता एक ही महाभाव को अपने पर आरोपित करने का एक कृत्रिम प्रयास है।

वास्तविकता को सब अपनी-अपनी नजर की सीमा में ही तो देखते हैं। जैसे नित्य नैमित्तिक घटनाओं को अपनी सृजन-संवेदना का अंश बना पाना कठिन होता है, वैसे ही विराट् अनुभूति के ताने-बाने में उलझे हुए रचनाकार को पार्थिव-जगत की बहुत सी तकलीफें सृजनात्मक प्रेरणा का उत्स नहीं लग पातीं। इसमें आश्चर्य क्यों? ठीक है, अभाव और गरीबी तथा भूख और शारीरिक श्रम की यंत्रणा बेहद कठोर सच्चाइयाँ हैं परन्तु यदि सभी की दृष्टि प्रकृति की राशि-राशि सौन्दर्य-निधि में उलझ जाये, धरती की हरीतिमा शिखरों का धवल विस्तार, सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश, ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक विराट् आत्मीय-भाव उसे अपनी बाँहों में आलिंगित कर ले तो उस पर हमें संशय क्यों हो? आख़िर भक्त कवियों की भावात्मक अनुभूतियों पर हम संशय क्यों नहीं करते? इसे हम कवि पर ही क्यों नहीं छोड़ देते कि वह अपनी अनुभूति के उत्स के स्थलों की तलाश स्वयं करे? क्यों हम अपनी चिन्तन-पद्धति को किसी रचनाकार पर लादना चाहते हैं?

रोटी की जरूरत एक मौलिक ज़रूरत है। कबीर भी तकली कातते थे, सूत बनाते थे और कपड़ा बुनते थे परन्तु उनकी सर्जनात्मक चेतना अधिक विराट् अनुभूति से क्रियमाण होती थी। नरेश मेहता इस दृष्टि से निश्चय ही उस वैष्णवी भूमि की ओर अग्रसर कवि माने जायेंगे जो इस जगत की पार्थिवता को झेलता तो बराबर है पर उससे आक्रान्त कभी नहीं होता। उन्हें वे

अभाव चाहे जितना दुःख दें परन्तु उनकी सर्जनात्मक भूमि को कड़वी नही बना पाते। उन्होंने शरीर को उतना ही महत्त्व दिया है जितना उनकी दृष्टि में शरीर का महत्त्व हो सकता है। मन, हृदय और आत्मा का सौन्दर्य ही उनका मुख्य सरोकार है। आज भी वे रोटी को लेकर उतने आश्वस्त नही कहे जा सकते परन्तु रोटी को लेकर वे बेचैन तो नही ही कहे जा सकते।

अपनी सर्जनात्मकता को रोटी के सवाल से मुक्त करने का उनका निर्णय तो उस फैसले मे ही स्पष्ट रूप से निहित है जब १९५९ में बिना किसी नौकरी मे जुड़े और बिना किसी नौकरी की तलाश करते हुए वे चुपचाप प्रयाग मे आकर सृजन रत हो जाते है। नरेश जी इस दृष्टि मे विरले आधुनिक कवियो मे हैं। जिस समय वे केवल सर्जन के प्रति ही पूर्ण रूप से समर्पित होकर अपनी नौकरी मे मुँह मोड लिये उस समय उनके पास अपनी जीविका का कोई भी तो आधार नही था। यह नही कि वे चाहते तो उन्हे रेडियो की नौकरी के बाद कोई काम मिलता ही नही। आखिर हिन्दी के उस समय के एम०ए० तो वे थे ही। अनुसन्धान का कार्य भी उन्होंने प्रारम्भ किया ही था। परन्तु उनकी निष्ठा अपने रचना कर्म के प्रति थी। उसी मे से जो कुछ निकले उसमें रह लेंगे, यही उनका संकल्प था। और संकल्प के वे धनी रहे हैं। उनकी अलिखित काव्य-पंक्ति—

"ओ मेरे दाता !

दी है फ़कीरी तो देना संकल्प भी।" उनके जीवन की निरन्तर संगिनी रही है। इसीलिए तो उसे लिख कर वे उससे मुक्त नही हो सके है।

●

चतुर्थ अध्याय

संस्कृति की शोध

बहुत पहले—क़रीब तीस वर्ष पहले नरेश जी ने 'दूसरा सप्तक' में दी गई अपनी कविताओं के वक्तव्य में लिखा था

"संस्कृति भ्रामक शब्द है। फिर भी संस्कृति की शोध तो की ही जा सकती है और हम मनुष्य के आदि-काल के काव्य से भावों की विराटता ग्रहण करके सुन्दर कल्पना प्रधान साहित्य रच सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में उदाहरण रूप में मेरी 'उषस्' है। ऋतु की इस नित्य-कौमार्य कन्या का मैं प्रतिदिन अपने क्षितिज पर आह्वान करता हूँ।"

तीस वर्ष पहले जो संस्कृति के प्रति एक कुतूहलभरी उत्सुकता कवि के मन में थी और जिसकी शोध की आकांक्षा उसने उस समय की थी तब उसे प्रेरणा स्वरूपा ऊषा दिखी थी। ऋतु की उस नित्य-कौमार्य कन्या के आह्वान के साथ ही उसने संस्कृति की शोध शुरू की थी। तभी उसे लगा था कि उषा की मोहक वेला में हिमालय के आँगन की झील में स्वर्ण बरसने लगता है, पिघलते हुए हिम-खण्डों के बीच दूब का वर्ण खिलखिला उठता है, प्यासे मेघ शुक्र छाया में कूल को सूना देख कर उतर आते हैं, और इन सबके साथ रूप का वृन्दावन लहलहा उठता है।[1] उसी समय कवि ने आकांक्षा की थी :

'नभ से उतरो कल्याणी किरनो !
गिरि, वन-उपवन में
कम्पन से भर दो बालोमुख
रस रितु, मानव मन में
सदा तुम्हारा कंचन-रथ यह

---

1. उषस—२ दूसरा सप्तक

ऋतुओं के संग आये
अनागता, यह क्षितिज हमारा
भिनसारा नित गाये
रैन-डूँगरी उतर गये, सप्तर्षी अपने वरुण देश मे !"[1]

प्रकृति के झरोखे मे संस्कृति की पहचान और शोध की जो प्रक्रिया नरेश जी के कवि व्यक्तित्व मे आज से तीस वर्ष से भी अधिक पहले प्रारम्भ हुई थी, समस्त आर्षसाहित्य के मन्थन और चिन्तन के बीच से गुजरती हुई आज अपनी उन्मवा-भूमि पर प्रतिष्ठित है। आज भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम गायको मे नरेश जी का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल उद्गमो का ढूंढने, उसमे बीच-बीच मे आई विकृतियो और दोषो को पहचानने और उनसे बचने के साथ-साथ संस्कृति के उदात्तीकरण का जो एक विराट कवि-सुलभ प्रयास किया है वह हर दृष्टि से श्लाघनीय है।

यह संयोग नही है कि नरेश मेहता के नव्यतम संकलन 'उत्सवा' की समस्त कवितायें प्रकृति की नानावर्णी छवियो की आलोक-मंजूषा प्रस्तुत करते हुए ही हमे उनकी सास्कृतिक सुषुमा और वैभव से उदात्त बनाती है। संस्कृति की पहचान के अनेक माध्यम हो सकते हैं, हैं ही। परन्तु एक कवि के लिए जो सहज उन्मेष प्रकृति के वातायन से सम्भव है, वह अन्य स्रोतो मे नही, स्रष्टा का जो महिमामण्डित विराटत्व इस नाना रूपा प्रकृति के माध्यम से साक्षात्कृत होता है, वह अन्य किस माध्यम से सम्भव है? यही कारण है कि नरेश मेहता क्रमशः इस प्रकृति-साधना में डूबते चले गये है। संस्कार को जो विशिष्टता उन्हे इस प्रक्रिया मे उपलब्ध हुई है उसका दर्शन हम इन कविताओ के साक्षात्कार द्वारा ही कर सकते हैं।

परन्तु इसके पूर्व यदि हम उनकी दृष्टि एवं अनुभूति की यात्रा पर दृष्टि-पात करें तो हमें स्पष्ट लगता है कि उन्होंने एक लम्बी यात्रा पूरी की है। चिन्तन को अनुभूति तक ले जाना और अनुभूति में चिन्तन को पूरी समग्रता मे घुला लेना एक कठिन कवि-साधना है। नरेश जी ने इस साधना की सिद्धि तक अपने को पहुँचाया है।

नरेश मेहता ने वेदों का अध्ययन काशी मे अपने विश्वविद्यालयी अध्ययन क्रम मे ही प्रारम्भ किया था। यह भी एक विचित्र संयोग ही है कि जहाँ एक ओर उनका संसर्ग-सम्पर्क काशी के ऋषि तुल्य विद्वानों से हुआ जैसे आचार्य

---

१ उषस—४ दूसरा सप्तक

केशव प्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० गोपीनाथ कविराज वहीं उनका साथ मार्क्सवादी नवोदित कवियों में भी प्रारम्भ हो गया। दो जीवन मूल्यों की एक विचित्र टकराहट उनके व्यक्तित्व में होने लगी। ऊपर से तो दोनों धारायें एक जैसी लगती थी। दोनों में मानवीय समता, बन्धुत्व, एवं मानवीय उत्कर्ष की परिकल्पना की गई है। परन्तु दोनों की मूल्य दृष्टियाँ सर्वथा भिन्न ही नही वरन् परस्पर विरोधी भी है। इस परस्पर विरोध को नरेश जी ने बाद में खूब अच्छी तरह पहचाना। भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ मे वे कहते हैं : "जातीय ऊर्ध्वोन्मुखी अस्मिता की वाहिका धर्म दृष्टि हुआ करती है। मैं पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि धर्म से तात्पर्य किसी सम्प्रदाय, मठ या संस्थान से नहीं है। धर्म, प्रकृति की भाँति उदार और असंग होता है। काव्य और साहित्य के लिए मैं इसी धर्म की अस्मिता का पक्षधर हूँ।"[1] जो दृष्टि धर्म को अफ़ीम मानती हो उसका तालमेल नरेश जी की इस धार्मिक अस्मिता वाली दृष्टि मे कैसे सम्भव है ?

इसी प्रकार वे भारतीय संस्कृति के मूल में अहिंसा को रख कर ही उसको व्यायत्त करते है :

"मुझे यह लगता है कि भारतीयता, शेष मानवता से इसी अर्थ मे भिन्न है कि हमारी विकास-यात्रा हिंसा से अहिंसा की ओर रही है जबकि शेष मानवता की यात्रा हिंसा मे घोर हिंसा की ओर।"[2]

इन मूलभूत अन्तरों को समझ लेने के उपरान्त नरेश जी को अपना पथ निर्धारण करने में कुछ भी कठिनाई नहीं रही और ऊपरी समानता के बावजूद मार्क्सवादी मूल्य दृष्टि के निषेधात्मक पक्ष को वे अच्छी प्रकार समझते हुए उससे अन्तिम नमस्कार करते हैं।

भारतीयता की या यूँ कहें भारतीय संस्कृति की शोध की उनकी दृष्टि क़तई अन्ध-परम्परावादी दृष्टि नहीं है। वे इसे अच्छी प्रकार जानते और पहचानते है कि जहाँ भारतीय मनीषा सहस्राब्दियों से एक विशिष्ट अस्मिता को बनाये रखे हैं वहीं वे यह भी जानते हैं इस भारतीय चिन्तन-परम्परा में ऐसे विकार भी आते रहे हैं जिनके कारण यह देश बार-बार अधोगति को प्राप्त होता रहा। वे कहते हैं :

"मुझे सदा यह लगता रहा कि जिस देश और जाति के पास जितना बड़ा

---

१. भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ १४
२. भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ १५

इतिहास, समुन्नत संस्कृति, धार्मिक उदात्त दृष्टि एवं श्रेष्ठ साहित्य होता है, उसके दो ही परिणाम हुआ करते है। या तो हम सामान्य व्यक्ति की ही भाँति अपने अतीत का गौरव गान करते हुए अपनी हीनता को छिपाते रहें अथवा अतीत की उस महिमा मण्डित महाद्वीपता के समकक्ष अपना भी कोई यशद्वीप समानान्तर रूप मे निर्मित करें।'[१] ये दोनों ही परिणतियाँ आत्मघाती है। कहना नही होगा कि ये दोनों परिणतियाँ इस देश मे बड़े पैमाने पर चरितार्थ हुई हैं। जहाँ देश का एक विशाल जन समुदाय अतीत के यशोगाथा में ही अपने को तल्लीन करते हुए अपने सारे वर्त्तमान के कर्त्तव्य-बोध को सुला देता है वहीं दूसरी ओर ऐसे विशिष्ट व्यक्तित्वो का निर्माण होता है जो अपने यशोद्वीप मे अपने को बन्दी बना लेते हैं। परिणाम वही हुआ है जिसे नरेश मेहता कहते है एक भयानक अस्मिता हीनता। वे तो मानते ही है कि इस अस्मिता हीनता और जड़ता मे अधिक अन्तर नही है। अपने खण्ड काव्य 'संशय की एक रात' मे नरेश मेहता ने भारतीय संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को नयी अर्थवत्ता से उजागर किया है। युद्ध पूरे संसार के इतिहास का एक घिनौना सत्य रहा है। परन्तु पूरे संसार का इतिहास एक युद्ध से दूसरे युद्ध तक के बीच के क्रियाकलापो का ही इतिहास रहा है। युद्ध केवल राज्य विस्तार के ही लिए नहीं लड़े गये है। धर्म के लिए युद्ध हुए, न्याय के लिए युद्ध हुए। यहाँ तक कि शान्ति के लिए युद्ध हुए है। राम सीता को मुक्त कराने के लिए जब लंका की ओर प्रस्थान करते है तो उनके मन में भी एक प्रश्न उभरता है 'क्या युद्ध ही एक मात्र रास्ता है ?'

नरेश जी इस बात से भी कम चिन्तित नही है कि इस देश ने अपनी स्वतन्त्र इतिहास दृष्टि दो हजार वर्षो से निर्मित ही नही की। हमारे देश में जो मिथक है वे हमारी जातीय अस्मिता के गहरे स्रोत है।

> 'मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है
> उसको ही
> हाँ, उसको ही जगाना चाहता रहा हूँ बन्धु'

आगे राम कहते हैं

> ये यज्ञ
> ये आश्रम

---

१ भूमिका— 'महाप्रस्थान'—पृष्ठ १

देवोपासना
मानव-एकता
यदि बिना युद्धों के नहीं है सत्य
लक्ष्मण !
तब एक गहरा प्रश्न
संकट प्रत्येक प्रश्नि के लिए ।'
ऐसा युद्ध
ऐसी विजय
ऐसी प्राप्ति—
सब मिथात्व है
नर संहार के व्यामोह के प्रति
वितृष्णा से भर उठा हूँ ।—[1]

राम की यह शंका वस्तुत: कवि की शंका है, उसी का संशय है। क्या बिना भीषण नर-संहार के किसी बड़े लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती ? और क्या इस बर्बर नर-संहार के पश्चात् सचमुच किसी बडे लक्ष्य की प्राप्ति होती है ? गीता मे कृष्ण ने अपने ही तर्कों से युद्ध की अनिवार्यता से अर्जुन को सन्नद्ध किया है। राम भी 'संशय की एक रात' में अन्तत. पूरी परिषद का निर्णय अपने कन्धे पर स्वीकार कर युद्ध के लिए चल पड़ते है। परन्तु प्रश्न अपनी जगह पर बना रहता है। क्या मानव-संस्कृति की समस्त विकास यात्रा के उपरान्त आज भी इस युद्ध की विभीषिका से, युद्ध की बर्बरता से ऊपर उठ पाये हैं ?

नरेश मेहता जिस युग में जी रहे है युद्ध उसका सबसे भयानक अनुभव है। इस शताब्दी में दो-दो विश्व युद्ध हुए। भयानक नर-संहार हुआ। परमाणु-बमो से नागासाकी और हिरोशिमा को तहस-नहस कर दिया गया। आज के संसार की शक्ति का मापदण्ड इसी युद्ध-क्षमता से ही तो होता है। किसके पास कितने नर संहारक अस्त्र है। अणुबम तो अब पुराना पड चुका है। कितने अधुनातन आयुध, क्षेप्यास्त्र, आविष्कृत हो चुके हैं। बटन दबा कर मास्को या न्यूयार्क या वाशिंगटन से पूरे विश्व का विनाश सम्भव है। पूरी सभ्यता, सारी संस्कृति, पूरी मानव जाति का समूल नाश आज के मनुष्य के हाथों में है। इतने बडे नाश की क्षमता से युक्त आज के मनुष्य के विवेक को कितना विराट् होना पडेगा, यही आज मानव-संस्कृति का सबसे बडा प्रश्न है।

---

१ 'संशय की एक रात'—पृष्ठ २४

नरेश जी इसी प्रश्न को राम के माध्यम से 'संशय की एक रात' में उठाते हैं। उन्हें लक्ष्मण का तेजस्वी स्वर आश्वस्त नहीं कर पाता। लक्ष्मण ने बड़े ही तर्क पूर्ण और आस्था भरे स्वर में कहा है :

'कितने ही लघु हों
इससे क्या ?
सार्थक है।
स्वत्व है हमारा
कर्म—

× × ×

हम केवल चलते हैं
अपने में
अपने से बाहर
धूप और अन्धकार चीरे
हम चलते हैं।
चलने पर
सम्भव है—
तीर्थ मिले
कीर्ति मिले
चामर की छाँह मिले
सम्भव है—
पसली में बाण फँसे
प्यासे ही दम तोड़े,
चीलों से आखिर तक
युद्ध करें जीवन हित
सम्भव है—
सम्भव है—
साँकल से बँधे हुए
जेता के रथ में हम
जुतने को बाधित हों
विजयी राक्षस गण
जीवित ही भून दें

किन्तु
किन्तु यह असम्भव है
बन्धु ! यह असम्भव है,
कर्म और वर्चस को
छीन सके कोई भी
जब तक हम जीवित है।"[1]

लक्ष्मण की यह ओजस्वी भंगिमा कृष्ण की उस वर्चस्वी वाणी के कितनी निकट है, यह हम सहज ही समझ सकते है, परन्तु नरेश जी की योजना ऐसी नहीं है कि वह संशय समाधान प्राप्त कर ले। क्योंकि वे जानते हैं कि समाधान वह है ही नहीं जो इन प्रतिवादी तर्कों में प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए गीता के संशयालु अर्जुन है जिन्हे कृष्ण के तर्को के आगे नतमस्तक होते जाना है, उनके कर्म के दर्शन के समक्ष निर्विकार भाव से झुक जाना ही अर्जुन की नियति है, परन्तु नरेश जी के राम लक्ष्मण से बड़े, बहुत बड़े है। उनका संशय लक्ष्मण द्वारा प्रस्तुत समाधान से भी बहुत बड़ा है। हनुमान और जामवन्त के तर्क भी राम के संशय के आगे बौने रह जाते है। आखिर बहुमत के निर्णय को परिषद के निर्णय को राम स्वीकारते है, युद्ध में जाते है, परन्तु प्रश्न उनका बना रहता है—

'मै सत्य चाहता हूँ
युद्ध से नहीं,
खड्ग से भी नहीं
मानव का मानव से सत्य चाहता हूँ।
क्या यह सम्भव है ?
क्या यह नहीं है ?"

यही तो आज का प्रश्न है। भारतीय संस्कृति का सबसे ज्वलंत प्रश्न है। गाँधी का प्रश्न है बुद्ध का प्रश्न है। यही तो नरेश मेहता का संशय है। राम पूरे दायित्व बोध के साथ ही कहते है—

यदि मानवीय प्रश्नो का उत्तर मात्र
युद्ध है
खड्ग है

1 'संशय की एक रात'—पृष्ठ १५-१६

तो—
लो समर्पित हैं तुम्हें
तुम्हारे अज्ञात जलों को,
इस क्षण के द्वारा
वृष्टि भीगे उस महाकाल को
समर्पित है यह
धनुष, बाण, खड्ग और शिरस्त्राण।
मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए,
बाणविद्ध पाखी सा विवश
साम्राज्य नहीं चाहिए,
मानव के रक्त पर पग धरती आती
सीता भी नहीं चाहिए
सीता भी नहीं।"

यही है राम की संस्कृति। मानव के रक्त पर पग धरती हुई आने वाली सीता भी उसे नहीं चाहिये। यही है अहिंसा के प्रति अनन्य आस्था। परन्तु जैसे पार्षदों के सामूहिक निर्णय के सामने सिर झुकाकर निर्विकार मन से युद्ध के निर्णय को राम स्वीकार करते है, वैसे ही आज के बड़े से बड़े विवेक धारी पुरुष अपने वैयक्तिक विवेक को एक तरफ करके युद्ध के सामने घुटने टेकते है। कवि की समस्या यही है कि संस्कृति के भीतर कब इतनी शक्ति आयेगी जब युद्ध एक मात्र विकल्प नहीं रह जायेगा।

कवि की मान्यता है कि ऐसे युद्ध अपनी समाप्ति के पश्चात् भी समाप्त नहीं हो पाते। अपने पीछे अशेष युद्ध की शृङ्खला छोड जाते है। जो युद्ध पहले बाहरी रणक्षेत्र में लड़े जाते हैं, वही बाद मे अन्तस्तल में लडे जाते है।

"युद्ध क्या ऐसे ही होते समाप्त ?
जब शास्त्रों से ये
शेष कर दिये जाते है
युद्ध-स्थल में
तब अन्तस्तल में युद्ध
अशेष हो
जीवन भर चलते रहते है।"[1]

---

१. 'महाप्रस्थान'—पृष्ठ ४७-४८

भारतीय संस्कृति का एक केन्द्रीय तत्त्व करुणा है। उसी करुणा में यह युद्ध-भाव समाहित किया जा सकता है। भयानक से भयानक युयुत्सा को इस महाकरुणा में डुबो कर शान्त किया जा सकता है। हिंसा इसी सरोवर में स्नान करके रूपान्तरित हो सकती है। महावीर बुद्ध से गाँधी तक इसी महाकरुणा के अवतार-पुरुष थे। नरेश मेहता इस करुणा से किस सीमा तक आर्द्र थे इसका दर्शन उनकी राम-मुद्रा में ही हो सकता है। तुलसी के राम भले ही शील, सौंदर्य और शक्ति के अपूर्व समन्वय रहे हों, परन्तु 'संशय की एक रात' में जो राम का करुणामय स्वरूप चित्रित हुआ है वह कवि की निश्चय ही एक नव्य दृष्टि का ही परिणाम है। राम की वीरता का वर्णन तो सर्वत्र हुआ है। राक्षसों के महा विनाश के लिए उनका अवतार ही माना गया। पुराणों की इस अवतारी अवधारणा के पश्चात् राम के करुण रूप को उभारने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। परन्तु नरेश जी राम के व्यक्तित्व में इस महाकरुणा की अवतारणा बड़े ही मार्मिक स्तरों पर करते हैं। राम के भीतर इसी महाकरुणा का ज्वार उमड़ता है जब वे कहते हैं—

> 'यह चेतना
> यह बोध
> अमोही प्रज्ञात्मकता की
> अग्नि यह
> कौन से अभिषेक जल से शान्त हो ?
> समाहित व्यक्तित्व की
> यह ज्वाल
> अनुखन दाहती है बन्धु !
> अनुखन दाहती है।
> कौन से वे हिम शिखर हैं
> द्रोणियाँ हैं
> जहाँ आदिम अग्नियाँ सोयी पड़ी हैं
> यह अग्नि भी सो जाये।''[1]

राम के भीतर जो यह अनुताप की ज्वाला है उसे अपनी महाकरुणा से भिगोकर वे सुला लेना चाहते हैं। इस महाकरुणा का तत्त्व नरेश मेहता के

---

१. 'संशय की एक रात'—पृष्ठ २१

काव्य में जगह-जगह दृष्टिगोचर होता है। 'महाप्रस्थान' मे युधिष्ठिर अपनी हिमालय यात्रा के अन्तिम चरण में पहुँच कर कहते है---

"ओ तृतीय प्रहर के रात्रि-आकाश !
व्योम केश !
सावित्री-पत्तियों औ नक्षत्र-फूलों वाले
अश्वत्थ तुम्ही हो।
जब तुम पृथ्वी पर
नदियों के श्लोक लिखते हो
तब तुम्हारी करुणा
हिमालय हो जाती है।"

इसी करुणा में स्नात कवि की आत्मा अपने सृजन के लिए पाथेय जुटाती है। युधिष्ठिर अर्जुन से कहते है—

"व्यक्ति होगा
मानवीय वानस्पतिकता होगी और
उदात्त करुणा, प्रज्ञा होगी पार्थ।"[१]

इसी प्रकार युधिष्ठिर भीम से कहते है—

"करुणा मेरा धर्म है भीम !
किसी भी सम्बन्ध
साम्राज्य या शक्ति के सामने
मैं इसे नहीं छोड़ सकता।"[२]

कवि ने युधिष्ठिर के व्यक्तित्व के केन्द्र में इसी करुणा को प्रतिष्ठित किया है। वह सब कुछ छोड़ सकते हैं, परन्तु करुणा को नही। इस बिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते नरेश जी उस व्यामोह मे एकदम परे आ चुके होते हैं जिससे किसी सीमा तक वे अपने युवाकाल में जुड़े थे। इतना ही नही वे उस पर चोट भी करते हैं। उन्हें लगता है कि जिस संस्कृति में यह करुणा एक आन्तरिक मूल्य नहीं बन सकती उसमें व्यक्ति की सत्ता पर समाज और समाज के नाम पर

---

१. 'महाप्रस्थान'—पृष्ठ १३७
२ 'महाप्रस्थान'—पृष्ठ ६६

राज्य का वर्चस्व होता चला जायेगा और सारे मानवीय मूल्य ध्वस्त होते चले जायेंगे। राज्य वहाँ एक निरंकुश तंत्र में बदल जाता है और उसके भारी भरकम पाँवों के नीचे सारी मानवीय गरिमा पदलुंठित हो जाती है। युधिष्ठिर कहते हैं—

'आज, नहीं तो कल
राजा से अधिक कठोर हो जायेंगे
ये राज्य—
और सुदूर भविष्य में
राज्य से भी अधिक अमानवीय हो जायेंगी
ये राज्य व्यवस्थाएँ।''[1]

इस सत्य का दर्शन आज हम अपने युग में कितने निर्भ्रान्त ढंग से कर रहे हैं। समता और शोषण मुक्ति के नाम पर स्थापित हुए राज्य और उनकी राज्य-व्यवस्थाएँ आज कितना क्रूर रूप धारण कर चुकी हैं। आज पूरा व्यक्ति मूल्य, व्यक्ति की सारी मर्यादा उस राज्य और राज्य व्यवस्था के नीचे पद मर्दित है। नरेश जी इसी अमानवीय स्थिति की अभिव्यक्ति युधिष्ठिर के मुख से कराते हैं—

''राज्य व्यवस्था की नींव में
कराहते मनुष्य का होना
एक अनिवार्यता है अर्जुन!

× × ×

राज्य के अकूत शक्ति सम्पन्न होने का अर्थ ही है
व्यक्ति का स्वत्वहीन होना!
राज्य की गरिमा को
व्यक्ति की गरिमा का पर्याय होने दो।
किसी भी व्यवस्था का व्यक्ति से बड़े हो जाने का अर्थ होगा
अमानवीय तंत्र!!
समाज अमूर्त होता है
व्यक्ति नहीं,
और व्यक्ति के फूलत्व को कुचल देंगे

---

1. 'महाप्रस्थान'—पृष्ठ १०८

तो वन
गन्धमादन कैसे बन पायेगा पार्थ ?
फूल का एकाकीपन
अरण्य की सामूहिकता की शोभा है
विरोधी नहीं।''[1]

व्यक्ति और समवाय का जो यह स्वस्थतम सम्बन्ध नरेश मेहता की चिन्तन प्रक्रिया में उभर कर आया है वह भारतीय अस्मिता धारा की केन्द्रीय पहचान है। अज्ञेय ने भी इस सत्य को ठीक इसी रूप में अपने काव्य और चिन्तन में स्वीकार किया है जब वे कहते हैं—

''यह दीप अकेला
स्नेह भरा
है गर्व भरा, मदमाता
पर इसको भी पंक्ति को दे दो।''

व्यष्टि और समष्टि के इस अविरोधी स्वर को केवल भारतीय संस्कृति ही उभार सकी है और वह भी व्यक्ति के पूरे उन्नयन और विकास के साथ। इस देश की संस्कृति में व्यक्ति को जहाँ उसने अपने को अरण्यों में रचते हुए मानव-मुक्ति के सूत्रों का प्रणयन किया है उसे पश्चिमी दृष्टि से समझा ही नहीं जा सकता जहाँ व्यक्ति केवल समाज के शोषण का षड्यंत्र करता फिरता है।

कवि तो इसी व्यक्तिसत्ता का उद्घोषक है। इसे ही दूसरे रूप में उसने अपने 'शबरी' नामक खण्डकाव्य में स्थापित किया है। भूमिका में कवि कहता है—''शबरी अपनी जन्मगत निम्न वर्गीयता को कर्म दृष्टि के द्वारा वैचारिक ऊर्ध्वता में परिणत करती है। यह आत्मिक या आध्यात्मिक संघर्ष, व्यक्ति के सन्दर्भ में मुझे आज भी प्रासंगिक लगता है। सामाजिक मूढ़ता, परिवेशगत जड़ता तथा अपने युग के साथ संलापहीनता की स्थिति में व्यक्ति केवल अपने को ही जाग्रत कर सकता है। अपने को ही सम्बोधित कर सकता है। इसी संघर्ष के माध्यम से 'स्व' 'पर' हो सकता है, व्यक्ति समाज बन सकता है।'' शबरी के माध्यम से नरेश जी ने भारतीय संस्कृति के उसी अस्मिता बोध को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है जिसे हम प्रह्लाद से लेकर गाँधी तक

---

१. 'महाप्रस्थान' —पृष्ठ ११२-११३

देखते है, परन्तु जो व्यापक स्तर पर शताब्दियों से सोया हुआ है। इस देश मे व्यक्ति की मेधा को, उसके चिन्तन को उसके तप को, उसकी पूरी व्यक्तिमत्ता को गहरी प्रतिष्ठा दी गई है। उसी के माध्यम से यहाँ समाज के विकास की परिकल्पना की गई है। जब-जब और जिस-जिस युग में यह व्यक्ति की मूल्य-वत्ता, उसका उत्कर्ष अपनी चरम अवस्था मे रहा यह देश विश्व में शीर्ष पर रहा। जब-जब हमने व्यक्तिमत्ता को रौंदा और हम गहरे अंधानुकरण मे फँसे, देश रसातल में गया। शबरी एक प्रतीक चरित्र है जिसने 'सामूहिक जड़ता से अपने चैतन्य की रक्षा की है' और इस प्रकार नरेश मेहता के शब्दों मे एक 'मन्त्र चरित्र' बन सकी है। उसके जूठे फलो को खाकर राम कृतकृत्य हो उठते है और कहते है—

> मैं तो आया हूँ केवल
> करने जयकार सती का
> मै हूँ कृतार्थ पाकर यह
> स्वागत-सत्कार सती का।"

जिस ऊँचाई पर शबरी पहुँची हुई है, वहाँ व्यक्ति एकाकी या निपट अकेला हो जाता है, परन्तु उसमे अकूत संकल्प शक्ति आ जाती है। एक स्थल पर नरेश जी ने लिखा है—"शिखर होने का तात्पर्य ही है निपट अकेला होना।" लेकिन कवि मानता है कि 'व्यक्ति-मनस् और समष्टि-मनस् मे समरसता स्थापित करना' ही काव्य का उद्देश्य है। 'यह समरसता जिस काव्य मे जितनी ही उदात्त होगी उसमें उतनी ही काव्यात्मकता होगी।'[१] नरेश जी के काव्य मे व्यक्ति-मनस् और समष्टि-मनस् की यह समरसता निश्चय ही एक उदात्ततर भूमि पर स्थापित होती गई है। यही स्थिति बहुत से आर्ष-काव्यों की है। भारतीय संस्कृति के महान् रचनाकारो ने इस कठिन साधना को साधा है। वे केवल यथार्थ के अनुवादक नहीं रहे है। उन्होंने 'यथार्थ की इस जड़ता का शोध, धर्म और दर्शन की भूमि' पर की है। 'यथार्थ को धर्म और दर्शन दो डैने प्रदान करके ही काव्य अपनी काव्यात्मक यात्रा आरम्भ कर सकता है।'[२] नरेश मेहता के काव्य में धर्म और दर्शन के दोनों डैने आद्यन्त वर्तमान है जिनसे वे उड़ान भरते रहते हैं और ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर को चलते चले जाते हैं।

---

१ भूमिका—'प्रवाद पर्व'—पृष्ठ १०

२ भूमिका—'प्रवाद पर्व'—पृष्ठ १०

राम के शब्दों में गीता के कर्म सिद्धान्त का पुनर्परीक्षण करते हुए कवि पूछता है—

क्या यही है मनुष्य का प्रारब्ध ? कि
कर्म
निर्मम कर्म
केवल असंग कर्म करता ही चला आये ?
भले ही वह कर्म
धारदार अस्त्र की भाँति
न केवल देह
बल्कि
उसके व्यक्तित्व को
रागात्मिकताओं को भी काट कर रख दे।
क्या यही है मनुष्य का प्रारब्ध ??
क्या इसीलिए मनुष्य
देश और काल की विपरीत चुम्बकताओं में
जीवन भर
एक प्रत्यंचा सा तना हुआ
कर्म के बाणों को वहन करने के लिए
पात्र या अपात्र
दिशा या अदिशा में सन्धान करने के लिए
केवल साधन है ?
मनुष्य
क्या केवल साधन है ?
क्या केवल माध्यम है ??"[१]

राम के मुख से यह प्रश्न साधारण प्रश्न नहीं है। यह पूरे भारतीय कर्म सिद्धान्त को एक नया आयाम देता है। जैसे 'संशय की एक रात' में नरेश जी ने राम के ही मुख से युद्ध की अनिवार्यता के सम्मुख प्रश्न चिह्न लगाया था उसी प्रकार उन्होंने कर्म की निस्संगता के प्रश्न को छेड़ा है। यह सही है कि बहुत से प्रश्न अनुत्तरित रह जाने के लिए ही होते हैं। उसी प्रकार

१. 'प्रवाद पर्व'—पृष्ठ १६-२०

शायद यह प्रश्न भी अपना समाधान नहीं प्राप्त कर सकता । कवि स्वयं कहता है

> "मनुष्य की इस आदिम जिज्ञासा का उत्तर----
> किसी भी दिशा पर
> कभी भी दस्तक देकर देखो;
> किसी भी प्रहर के
> क्षितिज-अवरोध को हटा कर देखो
> कोई उत्तर नहीं मिलता राम !"[1]

भारतीय संस्कृति के विकास क्रम मे जो अनेक विकृतियाँ आती गई है नरेश जी उनको लेकर बहुत ही चिन्ताशील रहे हैं। वैदिक संस्कृति को पौराणिकता ने जिस प्रकार संशोधित परिवर्तित किया है उस पर भी उनकी पूरी सहमति नही है। उनकी दृष्टि मे जहाँ पुराणों ने राम और कृष्ण के मनुष्य रूप को एक ईश्वरत्व प्रदान करके एक नयी भागवत-भक्ति की परम्परा का शुभारम्भ किया वहीं उन्ही पुराणो ने वेद के सर्वमान्य एवं सर्व प्रमुख देवता इन्द्र के चरित्र को अध.पतित करने की दुरभिसन्धि की। इन्द्र के साथ किया गया यह अति-चार संस्कृति के वैदिक प्रवाह को कई अर्थो मे क्षरित करता है। नरेश जी ने लिखा है

"वेद मे जो विष्णु एक गौण देवता है उनकी वैदिक वामनता को पौराणिकता ने विराटता मे परिणत कर दिया। विष्णु को ऐसी प्रमुखता मिलने मे निश्चय ही इन्द्र बाधक हो सकते थे अत जिस रूप मे, जिस भाषा में और जिस कृतघ्नता के साथ इन्द्र को विष्णु के महाभिषेक में बलिपशु बनाया गया वह नितान्त जघन्य कृत्य था।"[2]

इस प्रकार हम देखते है कि नरेश मेहता की दृष्टि अपने प्राचीन ग्रन्थो तथा उनके प्रतिपाद्य को ज्यो का त्यो अन्ध स्वीकृति प्रदान करने वाली नहीं है। वे मूल्यान्वेषण की कोशिश मे समस्त सांस्कृतिक चेतना के विकास को उनके अन्तर्विरोधो के साथ देखते है तथा उसके स्वस्थ पक्ष को ही स्वीकार करते है। इसी क्रम मे उन्होंने आगे लिखा है

"देवराज इन्द्र, आर्य सभ्यता के परमाराध्य थे जिन्होने 'असुर-महत' (अहुर

---

१ 'प्रवाद पर्व'—पृष्ठ २१

२ भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ २२

मज्द) वरुणपन्थियों में संघर्ष करके आर्य सभ्यता को स्वरूपित किया था। वह कोई काल्पनिक चरित्र नहीं थे उनकी जिजीविषा, चरित्र एवं व्यवहार अत्यन्त मानवीय था। समस्त वेद पद-पद पर जिसकी स्तुति से भरे पड़े हैं वही हठात् पुराणों में लुच्चा, लम्पट चरित्रहीन, षडयन्त्री, कायर तथा पद लोलुप बना दिया गया।[1] इसीलिए नरेश मेहता आक्रोश के साथ कहते हैं कि इतने बड़े किसी जातीय मिथक का घोर पतन, नृशंस हत्या शायद ही कहीं और हुई हो। भारतीयता के अस्मिताहीन हो जाने का और क्या प्रमाण हो सकता है? निश्चय ही राम और कृष्ण इन्द्र के स्थानापन्न नहीं बन सके इसीलिए वर्चस्वी इन्द्र का पराभव, आधारभूत भारतीय वर्चस्विता, अस्मिता का ही पराभव है।"[2]

ऊपर के उद्धरण से यह बात स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है कि नरेश मेहता की चिन्ता केवल इतनी ही नहीं है कि वे भारतीय संस्कृति के एक गड्डमड्ड संघट्ट को अविवेकी ढंग से अपने चिन्तन और व्यक्तित्व का पर्याय बना लें। उनकी मूल चिन्ता संस्कृति की शोध है। और यदि भारतीय संस्कृति में जहाँ-तहाँ घुन लगे है तो उसे निर्विकार बनाने की भी उन्हें उतनी ही व्याकुलता है। कुछ तो ऐसा अवश्य भारतीय चिन्तन में प्रवहमान रहा है, जिसके कारण इस देश को बार-बार पराभव का शिकार होना पड़ा है। इस देश के ज्ञात पाँच हजार वर्ष के इतिहास का एक बहुत बड़ा अंश विदेशी दासत्व का रहा है। इस देश की चिन्तन धारा में कुछ मूलभूत भौंरियाँ रही हैं, जिनमें सारा विवेक फँस कर डूबता रहा है और अन्ततः हम अस्मिताहीनता और आलस्य के गर्त में गिरते रहे हैं। निष्काम कर्म की पीठिका पर खड़ा देश इस सीमा तक उदासीनता और अकर्मण्यता का शिकार होगा, सहसा विश्वास नहीं होता। इसी चिन्ताकुल मनःस्थिति में नरेश मेहता ने लिखा है :

"कई बार मुझे लगता है कि इस देश, जाति, संस्कृति और सभ्यता की ऐसी प्रदीर्घ अस्मिताहीनता का क्या कारण है? वेद, उपनिषद्, उन्नत दर्शन सम्प्रदाय, प्रशान्त आकर ग्रन्थ, पुष्कल सद्ग्रन्थ, सन्तों महात्माओं की अक्षुण्ण परम्परा के होते हुए भी यह देश क्रमशः अस्मिताहीन ही कैसे होता गया? ज्ञान की सारी पोथियों का स्थान अगत्या सत्य नारायण की कथा-पोथी ले लेती

१. भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ २३
२. भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ २३

है। शीर्षस्थ देवत्व का स्थान क्रमशः अवमूल्यन होते-होते कैसे अजीब देवी-देवता पा जाते हैं।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में यह चिन्ता अत्यन्त गहराई में अभिव्यक्त हुई है। जहाँ इस देश के इस गहन पराभव को लेकर नरेश मेहता इतनी तलस्पर्शी चिन्ता में घिरे हैं वहीं यह स्वीकार करना होगा कि उनकी दृष्टि कई ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं से नहीं टकराई है, जिन्हें हम सहज ही इस दुरवस्था के कारण भूत तत्त्वों में गिन सकते हैं। मुझे लगता है कि इस देश के अधिकांश मानसिक व्यामोह का एक प्रमुख कारण भारतीय काल-दृष्टि रही है। स० ही० वात्स्यायन ने इसे रेखांकित किया है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा है :

"....हम कह सकते हैं कि भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदिहीन, अन्तहीन प्रवाह की भावना और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल हमसे, भारतीय नाते से सम्बद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में। इसके प्रभावों की पड़ताल की जाये, इससे पहले इसकी पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि और दौड़ा ली जाये। कलियुग कितने वर्षों का होगा, यह शास्त्र बताते हैं। इसी प्रकार द्वापर, त्रेता, और सतयुगों के काल हैं। यों तो इतना ही मानवकाल-कल्पना की शक्ति के परे चला जाता है। लेकिन आगे जब हम जानते हैं कि यह ब्रह्मा का केवल एक पल है, और फिर हिसाब लगाते हैं कि ब्रह्मा का दिवस और वर्ष कैसा होगा—तब हम यथार्थता के क्षेत्र से बिल्कुल परे चले जाते हैं। ऋषि-मुनि साठ हजार वर्ष तक तपस्या कर लेते थे। आज साठ वर्ष को मानवीय आयु की औसत मानकर उससे हजार गुनी अवधि की कल्पना खैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओं की आयु गणना करने के नाते ही फिर यथार्थता का आँचल छूट जाता है। इस प्रकार सनातन के बोध तक पहुँचते-पहुँचते हम काल की यथार्थता का बोध खो देते हैं। सनातन की भावना लम्बी काल-परम्परा की भावना नहीं, काल की अयथार्थता की भावना है।"[2]

इस प्रकार वात्स्यायन ने इस देश की नस पर हाथ रक्खा है। परन्तु काल चिन्तन का जो सबसे भयावह पक्ष इस देश के चरित्र में प्रतिफलित हुआ है वह तो है काल की चक्रीय गति की परिकल्पना। हमारी मानसिक बनावट को एक दम पंगु कर देने वाली परिकल्पना यही चक्रीय परिकल्पना है। पाश्चात्य

---

१ भूमिका—'महाप्रस्थान'—पृष्ठ २४

२ 'आत्मने पद'—'भारतीयता'—पृष्ठ १००-१०१

चिन्तन में काल की गति एकरेखीय गति है। उनके यहाँ जो क्षण व्यतीत हो गया वह कभी भी लौटकर वापस नहीं आने वाला है। अतः वे प्रत्येक क्षण की मूल्यवत्ता से परिचित हैं, परिचित ही नहीं उससे गहराई से निबद्ध हैं जबकि हमारे युग तो बार-बार वापस आयेंगे। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम चलता ही रहेगा। फिर क्या त्वरा है, क्या चिन्ता है। जो कुछ रह गया फिर होगा। कर्म के प्रति एक गहरी समक्ति क्यों बने? जीवन के प्रति भी वही धारणा! आत्मा अमर है। शरीर बदलता रहा है, चोला है। पुराना पड़ेगा, क्षरित होगा, आत्मा फिर नया चोला धारण करेगी। जन्म मृत्यु का भ्रम केवल ऊपरी है, आत्मा तो अजर अमर है, 'न जायते म्रियेता वा कदाचित्'। आत्मा को तो न शस्त्र विद्ध कर सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल भिगो सकता है न वायु सुखा सकती है। फिर क्या चिन्ता, क्या चिन्ता, क्यों जल्दी? गीता के इस अमोघ सिद्धान्त ने जहाँ मनुष्य जाति को एक अकूत आत्मविश्वास दिया है अपनी अविनश्वरता के प्रति वही पूरे भारतीय मानस में एक गहरी कर्महीनता का संस्कार भी कूट-कूट कर भरा है। यह संस्कार कोई १००-५० वर्षों में निर्मित होने वाला संस्कार नहीं है, इसकी जड़ें बहुत ही गहरी हैं और इसे निर्मूल कर पाना लगभग असम्भव-सा हो गया है। क्योंकि वे ही सूत्र तो हमारी संस्कृति की शक्ति के मूल स्रोत भी हैं। उन्हीं से हम संजीवन ग्रहण करते हैं, विशिष्ट संस्कृति वाले बनते हैं। किन्तु उन्हीं सूत्रों को हमारी कर्मण्यता को लोप करते जाने का भी श्रेय जाता है।

नरेश मेहता की सांस्कृतिक चेतना की सबसे केन्द्रीय धारा उनकी उदात्तता की है। भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन का सबसे केन्द्रीयपक्ष उसकी उदात्तता ही है। संकीर्णता, प्रतिशोध, हिंसा जैसी भावनाओं से क्रमश उठते चले जाना भारतीय संस्कृति से क्रमशः संसक्त होते जाना है। उदात्तता ही उसे उस महाकरुणा और विराट् संवेदना की अनुभूति से सिंचित करती है जहाँ सारा विश्व अपनी मांगलिक छवियों में उसे सम्मोहित करता रहता है। माटी का माटीपन तो सभी देखते हैं परन्तु उसी माटी में कितनी-कितनी वनस्पतियाँ उगती हैं? कितने रूप, रंग और गन्ध वाले पुष्प खिलते हैं, कितनी औषधियाँ अंकुरित होती हैं, कितने-कितने फल समस्त प्राणिजगत को अर्पित होते हैं? माटी की इस विपुल राशिभूत कल्याणी सुषमा से साक्षात्कार होने पर मनुष्य का हृदय किस भूमि पर अवस्थित होगा? संसार में तुच्छताएँ कम नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में देवासुर संग्राम छिड़ा हुआ है। परन्तु मनुष्य प्रकृतितः ऊर्ध्वगामी होता है। उसकी ऊर्ध्वयात्रा का इतना उज्ज्वल इतिहास है कि उस पथ

चलने वाला पथिक क्रमश: अपने को इन सारी तुच्छताओं से मुक्त करता जाता है । ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, प्रतिशोध संघर्ष, युद्ध सभी मानवीय अनुभव के गोचर आयाम है । इन्हें इनकार नहीं किया जा सकता, परन्तु ये उद्दिष्ट नहीं हैं । ये उस मंगलमयी राह की अवरोधक मंजिलें है जिन्हें मनुष्य पार करते हुए आगे बढ़ता चला जा सकता है । नरेश मेहता की काव्य-यात्रा क्रमश: हमें उस भूमि तक पहुँचाने की एक अनथक तपश्चर्या है जहाँ पहुँच कर हमें स्रष्टा का वह कल्याणकारी महाभाव अपने में गहरे उतरता हुआ अनुभूत होता है । 'उत्सवा' की प्रत्येक कविता इस दृष्टि से मंत्र-कविता प्रतीत होती है । मंत्र जो आविष्ट करता है, रूपान्तरित करता है और उद्यीत करता है । फिर भी मंत्र और कविता में जो एक मौलिक अन्तर है और नरेश जी की कविता और मंत्र मे भी वह अन्तर है कि मंत्र अपनी अर्थमयता के कारण नहीं वरन् मात्र ध्वन्यात्मकता के आधार पर रचा जाता है जबकि कविता का प्रधान स्वरूप अर्थमयता के आधार पर निर्मित होता है । 'उत्सवा' में कवि ने जिस उदात्त भूमि पर अपने को अवस्थित करके रचना की है वह न तो सहज ही उपलब्ध हो सकती है और न वह नरेश जी को ही सहज ही उपलब्ध हुई है । इसके लिए निरन्तर एक ऊर्ध्वयात्रा करनी पड़ती है । वे भूमिका में ही कहते हैं -

"यदि यह कहा जाये कि ये कविताएँ अभिव्यक्त होने के पूर्व भी थीं तो इसका तात्पर्य यही है कि कविता, सर्वत्र तथा सार्वकालिक भाव से नित्य उपस्थित है । अपनी अभिव्यक्ति के लिए इन कविताओं ने मुझे माध्यम चुना तो इसका तात्पर्य भी यही है कि कविता का कोई कर्त्ता नहीं होता, और यदि कोई है, तो वह स्वयं अपनी आत्मकर्त्ता है, स्वयंसृष्टा है ।" नरेश जी की ये पंक्तियाँ हमें सहसा अज्ञेय के केश-कम्बली की याद दिलाती है । वह भी कहता है

"श्रेय नहीं कुछ मेरा ।
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में——
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था——
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी ।
महा शून्य वह महा मौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित अप्रमेय

जो शब्दहीन सब में गाता है।''[१]

जिस समर्पित भूमि पर कवि को यह वाणी और यह भाषा उपलब्ध होती है वह चेतना के उन्नयन की एक विशिष्ट भूमि है और वहाँ पहुँचने के लिए जिस आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मपरिष्कार की एक लम्बी साधनामयी यात्रा करनी पड़ती है वह प्रत्येक रचनाकार के लिए सम्भव नहीं हो पाती। उस भूमि का परिचय कराते हुए नरेश मेहता कहते हैं :

''व्यक्ति-विस्तार के बहुव्यास हो जाने की निष्पत्ति औपनिषदिकता है तो व्यक्ति समर्पण की निष्णात प्रतिश्रुति वैष्णवता है। एक में परम विराट हो जाने की विनति है, तो दूसरे में एकान्त के सान्निध्य की तुष्टि। एक में ब्रह्माण्ड है तो दूसरे में वृन्दावन। एक में ताण्डव है तो दूसरे में लास्य। एक में यज्ञभाव है तो दूसरे में लीलाभाव, परन्तु यह भेद केवल देखने का है, होने का नहीं। 'अहं ब्रह्मास्मि' का उद्घोष तथा 'प्रभु ! तुम चन्दन हम पानी' की एकात्मक आकुलता तत्त्वतः एक ही है। उपनिषद काल को माध्यम चुनते हैं तो वैष्णवता देश को। अहं अहं का विलयन, 'स्व' का विस्तार-औपनिषदिक प्रक्रिया है जो साक्षात् या निपात में तिरोहित होती है; जबकि वैष्णव भक्ति दृष्टि अहैतुकी कृपा, प्रभु की अनुकम्पा, नित्य का सान्निध्य, सेवा की निकटता की कामना में विलीन होती है। प्रयोजन और परिणति की दृष्टि से दोनों एक ही है। उपनिषद यदि पुरुषार्थ भाव है तो वैष्णवता, 'कृष्णार्पण'। उपनिषद् में यदि अर्जन का वर्चस्व है तो वैष्णवता में अनुकम्पा की प्रशान्तता। एक में यदि जाया गया है, तो दूसरे में, जाना कहाँ है ? एक में सर्वात्म का संग्रह है, तो दूसरे में अनात्म के द्वारा सब कुछ का परित्याग''[२] नरेश मेहता के व्यक्तित्व में औपनिषदिकता और वैष्णवता का अपूर्व संगम है। उनकी काव्यानुभूति में ये दोनों एकीभूत हो जाते हैं। व्यक्तित्व की वृन्दावनता ही चिन्तन का आरण्यक बन जाती है। उसी में उन्हें कहीं 'धूप की ब्राह्मणी उपनिषद' के रूप में दिखलाई पड़ती है, कहीं 'दूर्वा कीर्तन पंक्तियों' भी नज़र आती हैं। वृक्ष अपने पुष्पों को अर्पित करता हुआ प्रार्थना करता प्रतीत होता है तो नदियाँ मेघों की लिखित गायत्रियाँ-सी लगती हैं। सृष्टि का इतना उदात्त स्वरूप कवि की अनुभूति-धारा में अनेक रूपों में बार-बार नहा-नहाकर विचित्र कान्ति-

---

१ 'असाध्य वीणा'—'आँगन के पार द्वार' —अज्ञेय

२ भूमिका—'उत्सवा'—पृष्ठ १६

मयता के साथ चमत्कृत हो उठता है। धूप के लिए कवि की यह उक्ति कितनी आह्लाद कारी है :

"इस प्रभुरूपा राम्या-धूपा को
कभी ठाकुर कह बाँशी में पुकारा है ?'

वृक्ष को हम रोज ही तो देखते हैं। पौधे का अंकुरण, विकसन, फलागम सभी कुछ तो हमारी आँखों के सामने घटित होता रहता है, किन्तु जिस बोध से वृक्ष नरेश मेहता की चेतना को मण्डित कर देता है वह अपने आप में एक दम विशिष्ट है।

'अपने में से फूल को जन्म देना
कितना उदात्त होता है
यह केवल वृक्ष जानता है,
और फल
वह तो जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।'

आकाश को एक गायत्रि के रूप में देख सकना जो उषा और सन्ध्या रूपी गायत्रियों से युक्त है उसी विशिष्ट दृष्टि का प्रतिफलन है। नरेश मेहता का कवि व्यक्तित्व पूरी आर्ष-चिन्तनशीलता में डूबा हुआ है। वे सारे प्रतीक, मिथक और अवधारणायें उनके चिन्तन और अनुभावन का सहज अंग बन गई है। उनकी सम्पूर्ण शब्दावली उसी आर्ष-परम्परा में संस्कारित हुई है। एक स्थल पर उन्होंने लिखा भी है कि 'सामान्यत' लोग अपनी काव्यात्मकता का साक्षात्कार नहीं कर पाते है। कविता करना और कवि होना, काव्यात्मकता के भिन्न स्तर है। सब कविता काव्यात्मकता नहीं हुआ करती मात्र कविता करना बाह्य प्रक्रिया है परन्तु काव्यात्मकता का साक्षात्, कविता करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहुत सम्भव है कि मात्र कविता हमें एक विशिष्ट भाव-दशा तक ही ले जाये जबकि काव्यात्मकता, भाव-दशा या विशिष्ट भाव-स्थिति नहीं हुआ करती : वह तो भाव-मुक्त या भावातीत या 'अभाव' की स्थिति है।[१] 'इसी क्रम में आगे वे लिखते है - "काव्य से मुक्त हो जाने का नाम ही काव्यात्मकता है। जब कविता, काव्य का बोध करवाती है वह काव्यात्मकता की निर्द्वन्द्वता का नहीं बल्कि भाव या लौकिक तनाव का परिमण्डल है। काव्य से मुक्त काव्यानन्द ही काव्यात्मकता है।"[२] जिस परिकल्पना को

१. भूमिका—'प्रवाद पर्व'—पृष्ठ ८
२. वही

कवि ने 'प्रवादपर्व' की रचना के समय प्रस्तुत किया है 'उत्सवा' के रचनाकाल में उसे उपलब्ध करने की भरपूर कोशिश की है। यानी वह मात्र कविता नहीं कर रहा है वरन् काव्यात्मकता की रचना-स्थिति से गुजर रहा होता है। वह लौकिक तनाव के परिमण्डल से मुक्त होकर काव्य से मुक्त काव्यानन्द की अनुभूति की धारा में अवगाहन कर रहा है। इसीलिए सारी वनस्पतियाँ सूर्य, आकाश, पृथ्वी, उषा, सन्ध्या उसे एक अपूर्ण आनन्दानुभूति से भर देते हैं। इस महाभाव की स्थिति में जब वह वनस्पतियों को देखता है तो उसे एक विशाल कौटुम्बिकता का अनुभव होता है। उसे लगता है कि ये वनस्पतियाँ भाषातीत संकीर्तन करती निवेदित होती हैं और चारों ओर सुगन्ध-ही-सुगन्ध लिखती रहती हैं। ऐसी अवस्था में वह आनन्द की बृहत्तर अनुभूति से गुजरता जाता है। दिनारम्भ फूल के खिलने जैसा होता है। फूल खिल कर उसे पूर्ण करता है। उसे लगता है सारे वन-उपवन धरती के काव्य-संकलन हैं। चारों ओर कवि को यह समृद्धि कारी उदात्तता कैसे उपलब्ध होती है? लगता है कवि ने इस 'काव्यात्मकता' की मनःस्थिति को निर्मित करने में अपने को पूरी तौर पर संस्कारित करने की अखण्ड साधना सम्पन्न किया है। तभी यह सम्भव हो सका है। नरेश मेहता जब कहते हैं :

> "कभी अपनी वैयक्तिकता को
> इतनी विशाल स्वर लिपि में बजने दो बन्धु !
> और देखो इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए
> कैसा अनुष्ठान सम्पन्न हो रहा है।"[1]

वैयक्तिकता को एक विशाल स्वरलिपि में अंकृत करने की यह साधना नरेश जी ने निरन्तर की है। इसी साधना के परिणाम स्वरूप उन्होंने इस 'काव्यात्मकता' को अर्जित किया है, इसी के परिणाम स्वरूप वे अपने भीतर की कटुतम अनुभूतियों को पचाकर उनमें से केवल मांगलिकता को ही निसृत होने दिया है, और उसी साधना के फलस्वरूप उन्होंने अपनी सनातन संस्कृति के स्वस्थतम जीवाणुओं को अपने भीतर पूर्ण विकास तक पहुँचाया है।

ऐसा कर सकने में उनकी मनुष्य के ऊपर एक विराट् आस्था है। राम और कृष्ण के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा है कि जब तक उन्हें मानव रूपों में चित्रित किया गया है, वे मनुष्य को बहुत बड़ा सम्बल और संजीवन प्रदान

---

१. 'क्या कुछ भी नहीं'—'उत्सवा'—पृष्ठ ५८

करते हैं ईश्वर बन जाने पर वे केवल कुछ भक्तों के ही उपास्य बन सकते हैं। मनुष्य जीवन की ऊर्ध्वयात्रा का सर्वोच्च पड़ाव है और मनुष्यत्व की ऊर्ध्वता को परिसीमित करना सम्भव ही नहीं।

'अविश्वास मत करना
प्रत्येक पगडण्डी से मानुष-गन्ध आती है।
किसी भी मन्त्र को सूँघो
किसी भी स्तोत्र को छुओ
मानुष की गन्ध और जयकार दिखायी देगी।[1]

१. 'क्या कुछ भी नहीं'—'उत्सवा'—पृष्ठ ५५

पाँचवाँ अध्याय

प्रकृति से नव्य-साक्षात्कार

कविता से प्रकृति का सम्बन्ध अति प्राचीन है। भारत में तो सारा चिन्तन और काव्य-सृजन अरण्यों में ही प्रारम्भ हुआ। चाहे उपनिषद्कार और वेदों के मंत्र-द्रष्टा ऋषि रहे हों अथवा महाकाव्यों के रचयिता महर्षि वाल्मीकि एवं वेदव्यास सभी अरण्यवासी थे। इन ऋषियों के पूरे व्यक्तित्व में एक विचित्र 'वानस्पतिकता' थी। वाल्मीकि के रामायण में प्रकृति के वर्णन मात्र एक दृश्य-लोभी कवि के वर्णन नहीं हैं, वे उस महाकवि द्वारा रचित चित्र-छवियाँ हैं जिनमें उनका पूरा जीवन साँस लेता है। प्रकृति उनके लिए दृश्य नहीं थी, प्रकृति ही उनका जीवन थी। धीरे-धीरे जीवन का प्रकार बदलने लगा। नगरों का विकास होने लगा और कवि नागरिकता के निकट का प्राणी होने लगा। फिर प्रकृति उसके सौन्दर्य प्रेमी मानस की सौन्दर्य पिपासा को शान्त करने वाली स्रोत बनने लगी। हिन्दी कविता का प्रारम्भ जब हुआ तब भी प्रारम्भ में प्रकृति की स्थिति कवि के समक्ष एक उद्दीपन की ही रह गई थी। विरह का वर्णन हो तो, मिलन का वर्णन हो तो प्रकृति उद्दीपन रूप में ही चित्रित होती थी। जायसी द्वारा नागमती के वियोग का वर्णन हो या सूरदास द्वारा गोपियों का विरह वर्णन, सर्वत्र मनुष्य अपने भावजगत का आरोपण प्रकृति पर कर लेता रहा। शृङ्गार के अतिरेक में जो चाँद प्रेमी के हृदय को आनन्द के उद्रेक से परिपूर्ण करता है, वही वियोग में जलाने लगता है। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता कवि की दृष्टि में नहीं थी। सत्ता प्रेमी की थी, उसकी भावनाओं की थी, उसकी भावस्थितियों की थी। प्रकृति उसके लिए मात्र एक माध्यम थी। सूरदास की गोपियाँ अपने वियोग के प्रदाहकारी क्षणों में शिकायत करती हैं अचम्भा करती हैं 'मधुबन तुम कत रहत हरे।' गोस्वामी तुलसीदास पूरी वर्षाऋतु का वर्णन मानव-सापेक्षता में ही करते हैं :

हरित भूमि तृण संकुल समुझि परै नहिं पन्थ।
जिमि पाखण्ड विवाद ते, लुप्त भये सद्ग्रन्थ।।

पहले अर्द्धांश में वर्षा के प्रभाव का कितना सघन चित्रण है, परन्तु दूसरे अर्द्धांश में मानव स्थिति की सापेक्षता दृष्टान्त के रूप में आ उपस्थित होती है। रीति कालीन कविता में ऋतु-वर्णन जहाँ अपनी ध्वन्यात्मकता एवं अलंकारप्रियता से प्रभावित करता है, वहीं अपनी प्राकृतिकता से काफी दूर तक छूटता भी नजर आता है। अधिकांशतः ऐसी ही स्थिति है। जहाँ-तहाँ कोई पद्माकर उसे सघन झंकार प्रदान करते दिख जाते हैं और 'बनन में बागन में बगरयो बसन्त' का बगराना मन को उन्मत्त कर जाता है।

छायावादी कविता में प्रकृति फिर एक बार नयी आभा के साथ नव-नव उभरती नजर आती है। पन्त इस दृष्टि से निश्चय ही याद किए जायेंगे। वे 'बादल', 'नौकाविहार', 'परिवर्तन' आदि रचनाओं में अत्यन्त प्राजल चित्र प्रकृति के प्रस्तुत कर सके हैं। उनकी कविताओं से लगता है कि उनका प्रकृति की प्राकृतिकता से एक अन्तरंग परिचय है [illegible] नहीं एक कोमल आत्मीयता भी है। परन्तु दृष्टि उनकी भी एक [illegible] तसिकता वाली है। प्रसाद ने 'बीती विभावरी जाग री' जैसे गीतों के द्वारा अथवा कामायनी में जहाँ-तहाँ प्रकृति की अन्यतम छवियाँ चित्रित की हैं, परन्तु उनका भी प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध नहीं बन सका है और न वे प्रकृति में गहराई से रमण ही करते हैं। निराला ने तो अपनी पहली कविता में जुही की कली को एक नायिका रूप में ही प्रस्तुत किया है। छायावादी कविता की प्रकृति मूलतः मानवीकृत प्रकृति है।

अज्ञेय ने अपनी प्रकृति-ग्राही मानसिकता का एक भिन्न धरातल प्रस्तुत किया है। प्रारम्भिक संकलन 'इत्यलम' में ही उनकी 'जन्म दिवस' शीर्षक कविता प्रकृति का एक नया रूप लेकर उपस्थित होती है

"किन्तु नहीं धोता मैं पाटियाँ आभार की,
उनके समक्ष, दिया जिन्होंने बहुत कुछ किन्तु जो
अपने को दाता नहीं मानते---नहीं जानते
असुखर नारियाँ
धूल भरे शिशु, खग
ओस नमें फूल,
सद्य मिट्टी पर पहले असाढ़ के अयाने वारि बिन्दु की

कोटरों से झाँकती गिलहरी,
स्तब्ध, लयबद्ध भँवरा टँका-सा अधर में
चाँदनी से बसा हुआ कुहरा
पीली धूप, शारदीय प्रात की
बाजरे के खेतों में फलाँगती
डार हिरनों की बरसात में"

इन पंक्तियों में प्रकृति न तो उद्दीपन है, न एक आकर्षक छवि प्रस्तुत करने वाला सौन्दर्यमय दृश्य जिसे कवि की लोभी आँखें देख कर तृप्त हों और न ही प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोपण किया गया है या उसे मानवीकृत किया गया है। यहाँ प्रकृति अपने प्रकृत रूप में उपस्थित है और मानव-अनुभूति को, उसकी संरचना को, उसके पूरे व्यक्तित्व को अपनी उदात्तता से परिपूर्ण करती है। यही दृष्टि अज्ञेय की अधिकांश प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में है।

नरेश मेहता की काव्य-दृष्टि प्रकृति के इस उदात्त रूप को और भी विशद एवं निभ्रान्ति भाव से ग्रहण करती है। प्रकृति उनकी समूची संस्कृति में इस प्रकार केन्द्रीय सत्ता बन कर उसे नयी कान्ति और नया संस्कार प्रदान करती है, जिसे देख कर आश्चर्य होता है। नरेश मेहता प्रकृति से इस प्रकार का साक्षात्कार करते हैं कि उसी साक्षात्कार के परिणाम स्वरूप उनका मन सहज मानवीय विकारों से अपने को मुक्त करता हुआ लगता है। उनके व्यक्तित्व के उदात्तीकरण में सबसे बड़ा योग प्रकृति के प्रति उनकी नव्य दृष्टि का ही है।

पाश्चात्य चिन्तकों और वैज्ञानिकों ने प्रकृति और जीव-जगत को एक सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखा। उन्होंने सर्वत्र प्रतिस्पर्द्धा ही प्रतिस्पर्द्धा का दर्शन किया। उनकी दृष्टि में प्रत्येक जीवधारी एक दूसरे को दबाकर, उसे भोज्य बनाकर अपना पोषण प्राप्त करता है। इस सहज प्रतिस्पर्द्धा मूलक जगत में अस्तित्व के लिए संघर्ष होता रहता है और जो सबलतम और स्वस्थतम है वही जीने का, विकसित होने का अधिकारी होता है। डार्विन ने इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन के लिए जिस विराट् साक्ष्य का संचयन किया वह जहाँ उनकी अन्वेषक मेधा का प्रमाण प्रस्तुत करता है वहीं उनकी दृष्टि में मानव स्वभाव और संस्कार का भी एक निश्चित स्वरूप निर्मित होता जाता है। इसीलिए पूरे पश्चिमी संसार में निरामिष आहार एक अपवाद स्वरूप संस्कार है। जीव तो जीव का भोजन है ही। यूँ सूत्र यह हमारे देश में भी प्राप्त है।

वैसे यहाँ कौन-सा सुख नहीं प्राप्त है? परन्तु 'जीवो जीवस्य भोजनम्' की दृष्टि इस देश की संस्कारिता का निर्माण करने वाली दृष्टि नहीं है। वह केवल इतना ही संकेतित करती है कि हम भी उस पक्ष को देख रहे हैं, परन्तु हम और भी दूसरे विराटतर सत्यों को देखने में भी सक्षम हैं।

डार्विन के विकासवाद ने मानव जाति के जन्म और विकास का जो स्वरूप निर्धारित किया उसके वैज्ञानिक सत्यासत्य का विवेचन करना यहाँ उद्दिष्ट नहीं है। हो सकता है वह सच्चा सिद्धान्त हो परन्तु मानवीय संस्कारिता को अनुदात्त बनाने में उस दृष्टि और सिद्धान्त का गहरा हाथ रहा है। उस दृष्टि से गहराई से प्रभावित होकर ही पश्चिम में मानव इतिहास का अध्ययन और विश्लेषण होने लगा। अन्तत: कार्ल मार्क्स ने पूरे मानव-इतिहास के विकास में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को केन्द्रीय सत्य के रूप में उद्घाटित करते हुए सदा-सदा से मनुष्य में दो वर्गों का अस्तित्व एवं एक के द्वारा दूसरे के शोषण का अनवरत प्रवहमान स्वरूप प्रस्तुत किया। परिणाम स्वरूप वर्गों के संघर्ष का वह शाश्वत रूप सामने आया जिसे उभारकर, उत्तेजित कर ही हम समाज को मुक्ति या त्राण या समत्व की भूमि पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं। इन दोनों मनीषियों ने जिस दर्शन और दृष्टि को प्रतिपादित किया उसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच हिंसा प्रतिशोध, प्रतिकार, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, क्रोध आदि का होना अनिवार्य ही नहीं है, वरन वे ही भाव अपने अच्छे उद्देश्यों तक पहुँचाने के माध्यम बन जाते हैं। परिणामस्वरूप क्रान्ति के बाद क्रान्ति होती जा रही है, परन्तु मनुष्य का अन्तर्मन और अधिक क्रूर, बर्बर, हिंस्र और शंकालु होता जा रहा है।

नरेश जी के समक्ष प्रकृति और प्राणि जगत का यह भयावह रूप प्रस्तुत करने वाला जीवन-दर्शन और उसकी परिणतियाँ रही हैं। उनकी दृष्टि प्रकृति के उस उदात्त रूप पर गड़ी हुई है जहाँ कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं, केवल दान ही दान है, केवल सौन्दर्य ही सौन्दर्य है, केवल कल्याण ही कल्याण है। साहित्य में सत्य, शिव एवं सुन्दर रूप को जिस रूप में प्रकृति प्रस्तुत करती है और कौन करेगा! क्या पर्वत शिखरों से सागर तक जाने वाली नदियाँ अपने जल से तथा उसकी सिंचन शक्ति से किसी को वंचित करती हैं? क्या सूर्य अपनी ऊष्मा और प्रकाश का दान करने में कहीं कोई भेदभाव करता है? क्या धरित्री की उर्वरता, उसका मातृत्व किसी भी बीज को अस्वीकार करता है? गुलाब का फूल भी उसी में उगता है और झाड़-झंखाड़ तथा कँटीली वनस्पतियाँ भी उसी में उगती हैं। वह तो बिछी हुई है मातृस्वरूपा। उसमें

सब को आत्मसात् करने की विराट्तम क्षमता है। और सभी को अंकुरित करने की, पल्लवित और पुष्पित करने की उद्दाम आकांक्षा। धरित्री केवल धृति ही नहीं है, वह उल्लास है, सृजन है, आह्लाद है और एक निरन्तर जीवन्तता है। कहाँ है उसमें संकोच, तिरस्कार या अस्वीकृति ? प्रकृति के इसी रूप से मनुष्य को एक नव्य मानवीय संस्कार मिलता है। इस रूप को हमारे ऋषियों ने देखा था। उनके लिए उषा, सन्ध्या इसी प्रकार का सन्देश दिया करती थी। होने को इस धरती पर क्या नहीं है, परन्तु प्रश्न है कि हम ग्रहण क्या करना चाहते हैं ? हमारा मन खिंचता किस ओर है। जैसा नरेश जी कहते हैं 'काव्यात्मकता तो अपने 'स्व' के गुरुत्वाकर्षण की उल्लंघनता है।' इस 'स्व' में जो संकीर्णताएँ हैं, जो विकार हैं, जो आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं उनसे मुक्ति पाने का जो निरन्तर यज्ञ अन्तस में चलता है उसमें हमें यह प्रकृति-दृष्टि किस सीमा तक सहायता देती है, इसका गहरा साक्षात्कार नरेश मेहता की 'उत्सवा' की कविताएँ कराती हैं। इन कविताओं के पीछे जो दृष्टि है उसकी ओर संकेत इन पंक्तियों में साफ़ सुना जा सकता है 'सृष्टि के नियमन और व्यवहार में कहीं भी और कभी भी योगा-योग या हठात् या संयोग की भाषा अथवा क्रिया नहीं है। सर्वत्र एक सुविचारित प्रयोजन-दृष्टि है। चाहे [illegible] ऊर्ध्वता के ठीक पदतल में अनाम घास का जो वृत्त होगा वह संयोगवशात् नहीं होगा। एक निश्चित प्रयोजन है—सन्तुलन का, समरसता का। विपुल की अत्यल्प से, विराट की लघुता से, प्रकाश की अन्धकार से, कठोर की कोमलता से पग-पग पर चूल बैठायी गई है। चट्टानों और पहाड़ों की पुञ्जीभूत राशीय जड़ता को तराशने के लिए किसी लौह-परुषता को न चुनकर जल की अनाविल मसृणता का व्यवहार क्या संयोग है ? मरुथलों में बालुओं की अपार राशि को निरन्तर समतल बनाये रखने का उत्कट-कार्य किसी अन्य को न सौंप कर पारदर्शी हवाओं को क्या संयोग से दिया गया है ? सृष्टि में मानवीय सभ्यता की औपचारिकता या आडम्बर या मिथ्या-भाषा का व्यवहार कहीं नहीं मिलेगा और न कोई असन्तोष। प्रकृति में, सृष्टि में सामरस्य है प्रतिद्वन्द्विता नहीं। सृष्टि एक निश्चित अवधारणा है, फैंटेसी नहीं कि प्रकाश की इच्छा हुई और प्रकाश हो गया। क्रिया-प्रतिक्रिया, कार्य-कारण का विवेक और फल दोनों मिलेंगे। वृक्ष से फल तक संयोगवशात् नहीं टपकता। गुरुत्वाकर्षण की प्रयोजन-दृष्टि यदि न हो तो शताब्दियों तक एक भी फल नहीं टपकेगा।"[1]

---

[1] भूमिका—'उत्सवा'—पृष्ठ १५

इस दृष्टि को काव्यानुभूति में घुला देना भी कोई सरल कार्य नहीं है। नरेश मेहता निरन्तर एक ऐसी मानसिकता के निर्माण में पूरी तन्मयता के साथ लगे रहे हैं कि उन्हें प्रकृति के ये उपादान एक उदात्त अनुभूति से सिंचित कर सके। धूप को हम रोज अनुभव करते हैं उसमे प्रकाश और ऊष्मा ग्रहण करते है। धूप के अस्तित्व के बिना रात-दिन का होना रुक जाये। मनुष्य की सारी गति-अगति अवरुद्ध हो जाये। परन्तु धूप को 'धूप-कृष्णा' रूप मे देख पाना एक विशेष संस्कारिता की माँग करता है। नरेश मेहता इसीलिए प्रश्न की मुद्रा में है।

' इस कोमल गान्धार धूप को
कभी अपने अंगो पर धारा है ?
प्रतिदिन पीताम्बरा यह
वैष्णवी
किसके अनुग्रह सी
आकाश मे देववस्त्रों सी
अकलंक बनी रहती है ?
× × ×
इस गौरा, माध्वी धूपा को
कभी अपने पर कण्ठी सा धारा है।" ('धूप-कृष्णा'—'उत्सवा')

इस प्रश्न मुद्रा को बहुत से लोग यूँ समझेंगे जैसे कवि अपने को बहुत ऊँचाई पर रखते हुए साधारण जनो से पूछता है कि क्या कभी धूप को इस पीताम्बरा वैष्णवी रूप मे देख पाना उनके लिए सम्भव हो सका है। मुझे लगता है कवि का एक सहज उन्मेष और उस उन्मेष को विकिरित करने का भाव है। एक कहानी पढ़ी थी कि कोई बूढ़ा जीवन भर अपनी नमक रोटी की समस्याओ से उलझा रहा। कभी उसने सूर्योदय और सूर्यास्त की सारगर्भित मनोरमता से साक्षात्कार किया ही नहीं था। अवकाश प्राप्ति के बाद एक दिन उसने अपनी छत से वर्षा ऋतु के मेघाच्छन्न आकाश की अप्रतिम लालिमा के मध्य सूर्यास्त की छटा को देखा और देख कर विभोर हो गया। वह भाग-भाग कर अपने लड़कों से, पत्नी से पूछता है कि क्या उन्होंने सूर्यास्त के उस अप्रतिम सौन्दर्य को देखा है? सभी उसको मूर्ख बनाते है। सूर्यास्त को क्या देखना ? यह तो रोज ही होता है उसमे कौन-सा नवीन सौन्दर्य है, यह भाव उसे सभी के चेहरों पर दिखा। वह चकित और विमूढ सा उन लोगो की संवेदनहीनता पर आश्चर्य

करता रहा, परन्तु वह तो स्वयं जीवन भर कभी उस सौन्दर्य से परिचित नहीं रहा था। तो हम सब जीवन के जिस भयानक आवर्त्त में यान्त्रिक ढंग से घूम रहे हैं, उसमें हमें कहाँ अवकाश है कि धूप की वैष्णवी से साक्षात् करें ?

फूल के सौन्दर्य से तो हम अभिभूत होते हैं, परन्तु 'फूल को जन्म देना/कितना उदात्त होता है/यह केवल वृक्ष जानता है,/और फल/वह तो जन्म जन्मान्तरों के पुण्यों का फल है।' जैसा बोध हममें से कितनों को होता है ?

आकाश की अनन्तता तो हमें अभिभूत करती आई है, परन्तु आकाश एक गायत्रिन है और ऊषा और सन्ध्या उसकी गायत्रियाँ हैं, इसे हम कहाँ अनुभव करते हैं ? कवि की दृष्टि में 'जो जहाँ भी है/समर्पित है सत्य को।/ये फूल/और यह धूप,/लहलहाते खेत/नदी का कूल क्या प्रार्थनाएँ नहीं हैं ?' सारी वनस्पतियों को कवि की दृष्टि से देखने पर उसमें एक विशाल कौटुम्बिकता का अनुभव होता है। इस अनुभव से छन कर ऐसे संकल्पों का उदय होता है जिन्हें सामान्य धरातल पर हम सोच ही नहीं सकते।

> "मैं अपनी आयु की वानस्पतिक गन्ध
> फूल को सौंप देना चाहता हूँ
> ताकि वह
> मेरे पुण्यों की मयूर पंखी उत्सवता बन
> सूर्य के धूप-मुकुट की
> जयकार बने।"

ऐसी पंक्तियों को पढ़ते समय जहाँ-तहाँ पाठक को लगता है कि भाषा की साधारण अर्थवत्ता बहुत कुछ ऐसे महिमा मण्डित रूप में प्रस्तुत की गई है कि उसे सहज ही उपलब्ध कर पाना उसके वश में नहीं है। क्या होती है आयु की 'वानस्पतिक गन्ध' यह उसे समझ में नहीं आता क्योंकि आयु की गन्ध की कल्पना वह नहीं कर पाता। वनस्पतियों की गन्ध को वह जानता है। उसे आयु से सम्बद्ध कर पाना उससे सहज ही सम्भव नहीं हो पाता। परन्तु जब सारा जीवन ही इस वानस्पतिकता से ओत-प्रोत अनुभव होने लगे तो फिर आयु के साथ गन्ध का बिलयन असम्भव क्यों लगे ? ऐसे अंशों और प्रयोगों को दृष्टि में रखते हुए कुछ लोग नरेश मेहता की कविताओं पर 'मैनरिज्म' का आरोप लगाते हैं। इस आरोप में कितनी सच्चाई है, यह कवि को सोचना चाहिए। भाषा जीवन से गति और दिशा पाती है और अन्ततः अर्थबोध के नये स्तरों को उद्घाटित करती है। कविता को सदा सदा से यह छूट रही है

कि भाषा को नया आयाम देती चले। नरेश मेहता की कविताओं में भी यह प्रयास पूरी वेगवत्ता के साथ दिखता है। परन्तु उस पर विचार आगे किया जायगा। अभी तो इतना ही कि प्रकृति में जीवन और जीवन में प्रकृति जब इस प्रकार विलीन हो जाये तो भाषा के प्रयोग भी कहीं-कहीं एकदम नये हो जाते हैं।

नरेश मेहता फूल को एक मंत्र के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं :

"धरती को कहीं से छुओ
एक ऋचा की प्रतीति होती है।
देवदारुओं की देह-यष्टि
क्या उपनिषदीय नहीं लगती ?
तुम्हें नहीं लगता कि
इन भोजपत्रों में
एक वैदिकता है ?"

प्रकृति को अपनी पूरी सांस्कृतिक अनुभूति का अविभाज्य अंश बनाकर ग्रहण करना और उसे उसी में अभिव्यक्ति देना नरेश मेहता की प्रकृति-दृष्टि की सबसे केन्द्रीय प्रवृत्ति है। इसमें भले ही कहीं-कहीं प्रकृति के साथ बलात् तादात्म्य करने का भाव दिखे, परन्तु मूलतः यह दृष्टि एक आर्ष-व्यक्तित्व की महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिणति का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या नरेश मेहता जीवन में सचमुच इतने उदात्त धरातल को प्राप्त कर चुके हैं, इतनी वैष्णवी उनकी मानसिक भूमि बन चुकी है कि ये उन्मत्तता की नानावर्णी अभिव्यक्तियाँ उनकी सहज अनुभूति मानी जायें ? मैं इस प्रश्न को इस रूप में नहीं ग्रहण करता। आप किस धरातल पर खड़े हैं, इसका भी महत्त्व तो है ही, परन्तु आपकी दृष्टि कहाँ गड़ी है, आप जाना कहाँ चाहते हैं, मनुष्यता को कहाँ को ले जाना चाहते हैं, महत्त्व अधिक इसका है। यह नितान्त सम्भव है कि जो देवासुर संग्राम प्रत्येक मानव के हृदय में चलता है उसमें उसी रूप में कवि भी जर्जरित और विद्ध हो रहा हो। होगा ही, क्योंकि वह भी तो मनुष्य ही है। मनुष्य के जितने भाव-अभाव उसके हृदय और मन पर घात-प्रतिघात करते हैं, उसी रूप में वह नरेश जी के भी मन और हृदय पर करेंगे ही, परन्तु वे उन आत्म-संघर्षों को किस रूप में लेते हैं? उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि उनकी दृष्टि में 'सृष्टि में साम-रस्य है, प्रतिद्वन्द्विता नहीं।' प्रतिद्वन्द्विता को ही देखने वाली दृष्टि न तो इस

धरती को गायत्री-रूप में देखेगी न उसे फूल मंत्र दिखेगा, न वनस्पतियाँ उसे उदारमना दिखेंगी। उसे तो सर्वत्र एक द्वन्द्व, एक संघर्ष, एक प्रतिस्पर्द्धा ही दिखेगी। अत महत्त्व दृष्टि का है। नरेश जी चाहे वैष्णव उस अर्थ मे न हो जिसमें एक सिद्ध वैष्णव को हम परिकल्पित करते हैं, परन्तु उनकी अनुभूति में एक विवेक की जबर्दस्त तराश है जो विकृतियों से बचना चाहती है और प्रकृति को कल्याणी रूप में ही देखने का आग्रह करती है। यह उनकी दृष्टि मनुष्यता को निश्चय ही एक नया धरातल प्रस्तुत करने वाली दृष्टि है। प्रकृति इस दृष्टि निर्माण मे तथा इस वैष्णवी और औपनिषदिक भावभूमि की रचना में सबसे केन्द्रीय उपादान रही है क्योंकि मनुष्य जिस छल, प्रपंच ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा-प्रतिद्वन्द्विता मे आज ग्रस्त है प्रकृति उससे मुक्त एक दूसरा स्वरूप भी पूरी समृद्धि के साथ प्रस्तुत करती है जहाँ दान है, परन्तु आकाक्षा नही। इसीलिए हम नरेश मेहता की इस उक्ति की सारगर्भित अर्थवत्ता को स्वीकार करते है :

> "फूल ही नहीं
> वनस्पति मात्र की भाषा
> उसका वर्ण है
> और वन
> इसी वर्ण-भाषा में लिखा गया उपाख्यान है।"

प्रकृति के प्रति कवि की यह दृष्टि निश्चय ही उस विराट बोध पर आधारित है जिसके अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड एक परमसत्ता की ही अभिव्यक्ति है। यह बोध मानव जाति के लिए नया बोध नही है और भारत मे तो इसकी प्रवहमान परम्परा रही है, परन्तु एक कवि की अनुभूति की परिधि इतनी व्यापक हो सके कि यह बोध अपनी बोधव्यता से संक्रमित होकर अनुभूति की सत्ता का अंग बन जाये, यही कवि की उपलब्धि है। अर्थात् दर्शन को अनुभूति में बदल डालने की एक परम साधनामयी यात्रा कवि की अन्तर्यात्रा रही है। उस परम सत्ता को ही जब हम सचराचर में अनुभव करने लगते है और वह अनुभव हमे विराट से विराटतर पीठिका पर पहुँचाता चला जाता है और फिर भी कवि का कवित्व उस अनुभव से स्फुरित होता रहता है तो निश्चय ही वह एक सफल निष्पत्ति है। अन्यथा कवि पद्यबद्ध दार्शनिकता का रचयिता बनकर रह जायेगा। नरेश मेहता किस सीमा तक उस सफल निष्पत्ति तक पहुँच सके है और कहाँ वह पहुँचने से रह गये है यह तो भविष्य का इतिहास ही बत-

लायेगा, परन्तु उनकी साधना और उनकी कविता निरन्तर ऊर्ध्वोन्मुखी होती चली गई है। जड़ें उसकी पार्थिवता में हैं, परन्तु वह निरन्तर प्रकाश के उत्स की ओर बढ़ती रही है जिससे सारा ब्रह्माण्ड आलोकित है। इसीलिए उनकी इस उक्ति से हम सहमत हैं : "कविता, कवि का व्यक्तित्व है, वह उसके संस्कारों की वाहिका है।"[1] और उनकी इस मान्यता को भी हम स्वीकार करते हैं : "जिस कवि में जिस कोटि की मानसिकता होगी रचना की उदात्तता एवं सम्बोधन का परिवृत्त भी वैसा ही विशाल होगा।"[2]

---

१. भूमिका—'उत्सवा'—पृष्ठ १८

२. वही

छठवाँ अध्याय

मिथक और समकालीनता [सन्दर्भ-खण्ड काव्य]

नरेश मेहता ने अपने खण्ड काव्यों की रचना मिथकीय आधार पर की है। 'संशय की एक रात', 'महाप्रस्थान', 'शबरी' और 'प्रवाद-पर्व' सभी खण्ड काव्यों में मिथक का आधार लिया गया है। मिथक किसी जाति की संस्कृति के गहरे स्रोत होते हैं। वे अतीत से वर्तमान तक और वर्तमान से भविष्य तक अपनी प्रवहमानता बनाये रहते हैं। जातीय संस्कारों के निर्माण में इन मिथकों के प्रयोग का गहरा योगदान होता है। जो जाति जितनी प्राचीन होती है और जिसमें जितनी ही जीवनी शक्ति होती है वह उसी जीवन्तता और शाश्वतता के साथ अपने मिथकों को पुनरुज्जीवित करती रहती है और उन मिथकों द्वारा स्वयं भी पुनरुज्जीवन प्राप्त करती है। भारतीय सन्दर्भ में इन मिथकों का आत्यन्तिक महत्त्व है। किसी भी भारतीय के लिए राम, कृष्ण, शिव आदि ऐसे प्रेरक शब्द हैं कि उनके उच्चारण मात्र से उसके हृदय में स्फुरण होने लगता है। प्राचीन प्रतीकों और मिथकों का बार-बार भिन्न-भिन्न युगों में क्यों प्रयोग किया जाता है ? क्यों कवि और चिन्तक इन मिथकों का सहारा लेकर अपने युग के सन्दर्भों को पहचानना चाहता है ? क्यों बार-बार ये मिथक नयी और नयी अर्थवत्ता के साथ हमारे सामने आते हैं और हमारी चेतना को झंकृत करते हैं। इन प्रश्नों के समाधान की कोई एक सरणी नहीं है।

कभी तो प्राचीन चरित्र इतिहास से मिथक बनते हैं। उनकी ऐतिहासिकता धीरे-धीरे बहुआयामी होती चली जाती है। हमारी प्राचीनता में संसक्ति अनेक कारणों से होती है। कभी-कभी यह संसक्ति हमें पलायनवादी बनाती है। जब हम वर्तमान से जूझ नहीं पाते हैं, तात्कालिक समस्यायें हमें अपनी विकरालता से आक्रान्त करती दिखती हैं, तो हम प्राचीनता में, अतीत में अपना मुँह छिपा लेते हैं। ऐसी अतीतोन्मुखता सांस्कृतिक पराभव को ही जन्म देती है या यूँ

कह कि सांस्कृतिक पराभव की मानसिकता में ही हम इस प्रकार की अतीतो-न्मुखता के शिकार होते हैं।

परन्तु अतीत की गाथाओं में, अतीत के चरित्रों में हम बार-बार नया प्रकाश भी पाते हैं। कभी-कभी किसी युग में ठीक वैसे ही सन्दर्भ आ खड़े होते हैं जैसे किसी पूर्व युग में प्रस्तुत हुए थे और हम अतीत में प्रवेश करके अपने सन्दर्भ में नये संकल्प के साथ साक्षात्कार करते हैं। कभी-कभी प्राचीन गाथाओं में नये मोड़ और नयी धार देने का काम भी कवि को करना पड़ता है। कभी-कभी तो मिथकों को एकदम नया रूप देकर कवि अपनी युगीन संगति को उसमें पिरो लेता है। हर स्थिति में अतीत का प्रयोग वर्तमान या भविष्य की चिन्ता के सन्दर्भ में ही होता है। अतीत तो घटित हो चुका है। उसे न हम बदल सकते हैं न उसे जी सकते हैं। जीना हमें अपने वर्तमान को है—और बदलने का संकल्प भी हम उसे ही कर सकते हैं या भविष्य को अपने अनुरूप अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप गढ़ने का संकल्प कर सकते हैं। अतीत का उपयोग या अतीत से साक्षात्कार सदा वर्तमान या भविष्य से जुड़ा होता है

नरेश मेहता का पहला 'खण्ड काव्य' 'संशय की एक रात' एक गहरी मानवीय चिन्ता में ग्रस्त मन का संशय प्रस्तुत करता है। राम जो भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड बन चुके हैं, कवि के समक्ष एक नयी चिन्ता के साथ अव-तरित होते हैं। राम वाल्मीकि के काव्य में मानव हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने उन्हें मनुष्य से ईश्वर बनाया, अपनी एकनिष्ठ भक्ति को उनके चरणों में निवेदित कर दी। यह ईश्वरीभूत राम भारतीय मानस के जाज्वल्य मान्य प्रतीक बनते चले गये। एक बार ब्रह्म के रूप में राम के प्रतिष्ठित कर लेने पर जहाँ अनेक मार्ग प्रशस्त होते हैं, वहीं अनेक द्वार अवरुद्ध भी हो जाते हैं। जो ईश्वर है उसके असाधारण आचरण तक मनुष्य की पहुँच कैसे हो? वह गलती भी क्यों करेगा? हाँ, लीला वह कर सकता है, अतः वही वह करता है। राम का पौरुष उनकी अप्रतिम वीरता, उनका भ्रातृत्व उनकी मर्यादा-प्रियता आदि अनेक गुणों को गोस्वामी तुलसीदास ने गहराई से उभारा है। उन्हें शील, शक्ति और सौन्दर्य का अद्वितीय संयोग बना कर प्रस्तुत किया है। परन्तु राम की वीरता और पौरुष में करुणा और मानवीय संवेदना का तत्त्व कितना है और बर्बर युद्ध के पूर्व राम में कोई संकल्प-विकल्प होता है या नहीं इस प्रश्न को गोस्वामी जी ने नहीं कुरेदा है। जो ईश्वर है उसे संशय क्यों होगा। वह तो असंशय का प्रति रूप है। संशयात्मा विनश्यति। संशय हो तो रावण को हो, राम को क्यों

हो ? परन्तु नरेश मेहता के राम मनुष्य हैं और एक महान चरित्र वाले महा-मानव । उनका मूल स्वभाव करुणा और प्रेम और अहिंसा का है । युद्ध मे जाते हुए उन्हें बराबर यह लगता है कि वह बर्बर कृत्य है । इसमें भयानक रक्तपात होता है । रक्तपात मनुष्यता का सबसे बडा अपमान है । राम यह सोच ही नही पाते कि उनके हाथो इतना भयानक रक्तपात हो । ऐसी मनःस्थिति में उनके मन मे एक गहरा संशय उभरता है कि क्या युद्ध ही एक मात्र विकल्प है । क्या युद्ध से ऊपर उठ कर केवल मानवीय गुणों को उभार कर ही हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते ? राम कहते है

"इतिहास के हाथो
बाण बनने से अधिक अच्छा है
स्वयं हम
अँधेरों में यात्रा करते हुए
खो जायें
किसी के हाथो सही
पर नियति खोना है ।
मात्र
श्रेष्ठ हाथो की प्रतीती के लिए
इस मिथ्यात्व को
शास्त्र सम्मत सत्य कह कर
मत छलो ।
सब शिखर की नीव में
सोया अँधेरा है;
मत जगाना
अँधेरे को मत जगाना
लक्ष्मण मत जगाना ! !

युद्ध राम की दृष्टि मे एक गहन घुप्प अँधेरा है । उनमें जो एक आकुल बेचैनी है, उस युद्ध की अनिवार्यता को लेकर उसे उनका प्रशान्त हृदय झेल नहीं पाता । उसे लगता है कि इस अँधेरे से अपने को आच्छादित करना सबसे बड़ी पराजय है । इस रक्त सने पगो द्वारा वे सीता की वापसी भी नही चाहते । मानव के रक्त पग पर धरती आती/सीता भी नही चाहिए/सीता भी नही/एक बार गाँधी जी से उनकी अहिंसा को लेकर प्रश्न किया जाने लगा । बहुतो की

दृष्टि में अहिंसा मात्र एक नीति थी जो एक अशक्त राष्ट्र एक सशक्त शत्रु के समक्ष अस्त्र के रूप में प्रयोग करने को बाध्य था। गाँधी जी ने कहा था कि अहिंसा उनके लिए नीति नहीं है। अहिंसा उनके लिए सर्वोच्च आस्था एवं एक मात्र निष्ठा है। उनके जीवन का प्राण स्पन्दन है। और आगे बढ़ कर उन्होंने कहा था कि सत्य और अहिंसा का परित्याग करके हमें भारत की स्वतन्त्रता भी नहीं चाहिए। नरेश जी के राम जब कहते हैं कि रक्त से सने हाथों से उन्हें सीता भी नहीं चाहिए तो उसमें कहीं पलायन या कायरता का भाव नहीं है। गाँधी की अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं थी।

मनुष्यता की इतनी लम्बी यात्रा के पश्चात् आज भी ये प्रश्न ज्यों के त्यों सुरसा की तरह मुँह बाये खड़े हैं जो समूची संस्कृति को, सारे मूल्यों को, सम्पूर्ण मानवता को खा जाने की क्षमता रखते हैं। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में मनुष्यता के समक्ष सबसे भयानक प्रश्न यही युद्ध का प्रश्न है। जिन वैज्ञानिकों ने जिस राष्ट्रीय निष्ठा के वशीभूत होकर अणु के विखण्डन की तकनीक को आविष्कृत किया था, उनका विवेक उन्हें चीख-चीख कर धिक्कारने लगा जब परमाणुबम का प्रयोग नागासाकी और हिरोशिमा पर किया गया और कुछ घड़ियों में लाखों लोग अग्नि की लपटों में भस्म हो गये, सारा नगर जलकर राख हो गया। और यह तो आज से चालीस वर्ष पूर्व हुआ था। अब का युद्ध कितना विनाशकारी होगा, इसकी क्या कल्पना की जा सकती है? अन्तर्महाद्वीपीय क्षेप्यास्त्र, हीलियम, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन बमों की विनाशकारी क्षमताएँ उस पुराने परमाणु बमों से हजारों गुना अधिक हैं। अब तो मास्को और न्यूयार्क में बैठे-बैठे, केवल बटन दबा कर सारी धरती को राख बनाया जा सकता है। मनुष्य की आज तक की सम्पूर्ण यात्रा को अनस्तित्व के गह्वर में सदा-सदा के लिए दफना दिया जा सकता है। अतः नरेश जी के राम यदि इस प्रश्न को उठाते हैं तो वह उतनी ही संगति उस काल में रखता है जितना आज।

जब कोई कवि किसी परम्परागत कथा-प्रवाह को मोड़ देता है या उसमें कोई नया कोण पैदा करता है तो कई प्रकार के जोखम उठाता है। सबसे पहला पक्ष तो विश्वसनीयता का होता है। मिथकीय चरित्रों से जुड़ी कथाएँ चाहे इतिहास कथाएँ न हों, परन्तु उनका एक स्वरूप बन जाता है जो लोक मानस में स्वीकृति प्राप्त कर चुका होता है। जब कवि कोई परिवर्तन करता है तो बराबर यह ध्यान देना पड़ता है कि कहीं वह ऐसी कड़ी तो नहीं जोड़ रहा है जो उस कथा शृंखला में बैठे ही नहीं। दूसरे उस नयी कड़ी जोड़ कर वह

पुराने कथा प्रवाह की अर्थवत्ता को और युगीन संगति को कहाँ तक उजागर कर पाता है। 'संशय की एक रात' दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है। राम की उदात्तता, उनका महामानवत्व, उनकी गहरी क्षमा शीलता और उनका शील मर्यादा कुछ ऐसे हैं जिन्हें युद्ध से अरुचि उत्पन्न कराने वाला ही माना जा सकता है। राम के चरित्र में राजकुमारों का वह उद्धतहिंस्र भाव कभी था ही नहीं। वे निरन्तर गहन गम्भीर और प्रशान्त मन वाले रहे हैं। कैसे सम्भव है कि उनके मन में युद्ध के भावों को लेकर संकल्प-विकल्प न उभरें? ठीक है सीता का हरण रावण ने किया है, ठीक है, राक्षस लगातार साधुओं और देवताओं को सता रहे थे। परन्तु उसे रास्ते पर लाने के और श्रेष्ठतर साधनों का उपयोग क्या असम्भव है? इस परिप्रेक्ष्य में हमें राम के मन में उपजा हुआ यह संशय सहज और राम के चरित्र के उपयुक्त ही लगता है। यह संशय कहीं से राम की विश्वसनीयता को खण्डित नहीं करता।

आज के युगीन सन्दर्भ में वह संशय कितना प्रासंगिक है इसे कोई भी विवेकशील मनुष्य सहज ही समझ सकता है। असमता, शोषण से मुक्ति और मानवीयता स्वतंत्रता के महद् उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसक क्रान्तियाँ सारे संसार में जगह-जगह हुईं और उसी हिंसा में से प्रतिहिंसा के अंकुर लगातार फूटते रहे। क्रान्तियाँ झूठी पड़ती चली गई और मनुष्यता एक के बाद एक करके छली गई। हिंसा और प्रतिशोध के माध्यम से मानवीयता समता और आत्मिक सन्तुष्टि के लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है। चाहे हम गाँधी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का जितना मखौल उड़ा लें और वर्ग और वर्ण के तीखे-से-तीखे संघर्षों का सहारा लें अन्तत: हमें जो प्राप्त होगा, वह वही नहीं होगा जो हम चाहते हैं। युद्ध के बाद युद्ध होते चले गये। प्रत्येक युद्ध में कोई-न-कोई मूल्याग्रह कहीं-न-कहीं अवश्य रहा, परन्तु मिला क्या? वही गहन पछतावा और घोर छल। नये प्रकार के शोषण-तंत्र उभरते नजर आये। नयी प्रकार की विषमताओं ने जन्म लिया। संशय और प्रवंचना की ऐसी श्रृंखला शुरू हुई जिसका कोई अन्त नहीं। अन्तत: बार-बार हम शिलाओं से टकरायेंगे और बार-बार पछाड़ खाकर अनुभव करेंगे कि यह युद्ध का मार्ग, संघर्ष का मार्ग हिंसा का मार्ग किसी मुक्ति तक नहीं पहुँचा सकेगा।

इसीलिए राम के मन में वह संशय उदित होता है। कथा की परिणति तो कवि बदल ही नहीं सकता था। राम को युद्ध में तो जाना ही था, रावण और राक्षसों का वध तो होना ही था, परन्तु राम के मन में उठा यह संशय आज की मनुष्यता के मन का संशय है। जब भी हम न्याय के नाम पर, स्वत्व

के नाम पर, अस्मिता के नाम पर युद्धोन्मुख होते है तो यह मानवीय भाव बार-बार उदित होता है, होना ही चाहिए। कभी-न-कभी वह पक्ष भी यह अनुभव करेगा ही जिसके अत्याचार और दमन और दयन्ता की स्फीति के कारण युद्धो का सूत्रपात होता है।

नरेश मेहता के राम को अपने सेनानियों और भाई लक्ष्मण, सेवक हनुमान और जाम्बवान तथा परिषद के निर्णय के सामने झुक कर युद्ध मे तत्पर होना पडता है। कथा की केन्द्रीय परिणति को परिवर्तित कर पाना कवि के लिए सम्भव नही था। उससे तो सारी विश्वसनीयता ही समाप्त हो जाती। परन्तु युद्ध को स्वीकार करते हुए भी राम अपने संशय को, अपनी चिन्ता को पूरी मानवता के लिए जीवन्त रूप में छोड़ जाते है। अपनी पितात्मा की छाया को सम्बोधित करते हुए राम कहते है :

"लेकिन पितात्मा !
ये सब स्वीकारोक्तियाँ है
सत्य नहीं।
इनकी वास्तविकता को
कभी चुनौता ही नही गया।
इन अन्धविश्वासों को
किसी संशय ने निगला ही नहीं।
किसी वर्चस्वी तर्क ने
इनके सत्य को
प्रश्न कर
बौना किया ही नही।" (संशय की एक रात)

गीता के कर्म सिद्धान्त की भाषा जब कृष्ण के मुख मे उच्चरित होती है तो विचलित अर्जुन सहज ही कृष्ण के तर्कों को स्वीकार लेते है। परन्तु वे ही तर्क लक्ष्मण के मुख से, हनुमान, जटायु, जाम्बवान और पिता दशरथ की छाया के मुख से जब निकलते हैं तो राम उनसे पराभूत नही होते। तर्क वही है। कृष्ण के तर्क, गीता के तर्क। उनकी तेजस्विता में कमी नहीं है।

लक्ष्मण कहते है :

"कितने ही लघु हों
इससे क्या ?
सार्थक है।

स्वत्व है हमारा
कर्म—
हमारी जलती हुई आँखों में
बँधी हुई मुट्ठी में
भिंचे हुए ओठों में
इन यात्रित पैरों में
संकल्पित प्रज्ञा है।
वर्चस्वी निष्ठा है।
उत्सर्गित इच्छा है।" (संशय की एक रात)

परन्तु लक्ष्मण द्वारा निवेदित यह 'संकल्पित प्रज्ञा, वर्चस्वी निष्ठा और उत्सर्गित इच्छा राम को युद्धाभिमुख नहीं कर पाती। वे कहते हैं

"मैं केवल युद्ध को बचाना चाहता रहा हूँ बन्धु !
मानव में श्रेष्ठ जो बिराजा है
उसको ही
हाँ, उसको ही जगाना चाहता रहा हूँ बन्धु !"

ठीक कृष्ण की भाषा में दशरथ की आत्मा की छाया राम से कहती है .

"उस अजन्मे अमर्त्य महाकाल को
न जन्म से
न मृत्यु से
न सम्बन्धों से
योजित या विभाजित किया जा सकता।"

परन्तु ये तर्क भी राम की शंका का समाधान नही कर पाते। क्योंकि राम का संशय मनुष्यत्व का विश्वास है। मनुष्य मे जो आसुरी वृत्तियाँ है उनके सामने समर्पण नहीं कर पाने वाला संशय राम का संशय है। वे युद्ध मे जाते है, परन्तु इन तर्कों से पराभूत होकर नही, परिषद के निर्णय के कारण। वे कहते ही है :

"किन्तु
इस युद्ध के उपरान्त
होगी शान्ति
इसका तो नहीं विश्वास।

बन्धु !
यह युद्ध
सम्भव है अनागत युद्ध का कारण बने।
तब
अनेकों लंका
अनेकों रावणों का जन्म हो
सम्भव है
हमारे लौटने के बाद ही
आक्रमणकारी
नयी सैनिक, उपनिवेशी योजनाएँ ले
इसी सेतुबन्ध से लौटें।
फिर संघर्ष
फिर संहार
इस ऐतिहासिक विषमता का
कौन सा प्रतिकार ?
इस चक्र का कोई नहीं है अन्त
हनुमत वीर !
कोई नहीं है अन्त।" (संशय की एक रात)

गीता जैसा महान संस्कृति-निर्माता ग्रंथ जिस स्तर पर और जिस निश्चयात्मक दृढ़ता के साथ युद्ध की अनिवार्यता को प्रतिष्ठित करता है, उसके सन्दर्भ में एक अपेक्षाकृत अधिक बड़ा मानवीय संशय प्रस्तुत कर पाना कोई सरल कार्य नहीं था। नरेश मेहता ने यह कार्य अत्यन्त कलात्मक सफलता से निष्पन्न किया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'संशय की एक रात' की तात्विक समीक्षा करते हुए जहाँ इस खण्ड-काव्य के अनेक कोणीय महत्त्व और सार्थकता को उजागर किया है वहीं एक आपत्ति रखी है : "जितना बड़ा संशय लेकर राम चलते हैं उनका निर्णय और भी गम्भीर हो सकता था। वह अपने को परिषद के निर्णय पर डाल देते हैं।.....श्री नरेश मेहता ने जनतांत्रिकता को इस संशय से बड़ा मान लिया लगता है, फलतः वह फिर वहीं लौट आये हैं जहाँ एक पद्धति की पावनता को महत्त्व देकर चलना होता है।" मुझे लगता है कि इस परिणति को दूसरी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। नरेश मेहता यह जानते हैं कि कथा में परिवर्तन किस सीमा तक लोक-मानस में ग्राह्य हो सकता है। अतः राम-रावण युद्ध का कोई अन्य विकल्प प्रस्तुत कर पाना एक सांस्कृतिक कथा

प्रवाह को पूर्णतः अतिक्रमित करने जैसा काम होता जो अपने सारे उद्देश्यों को तोड़ कर रख देता। राम को युद्ध करना ही है। ऐसी स्थिति मे राम ने निर्णय का दायित्व परिषद पर डाला है और अपने संशय की विराटता को कही से छोटा होने नही दिया है। नरेश मेहता की सबसे बड़ी दूरदर्शिता और सांस्कृतिक चिन्तन की परिपक्वता इस नियोजन मे है कि जहाँ महाभारत के सन्दर्भ में युद्ध को कर्म की पावनता और निस्संगता के साथ जोड कर कृष्ण ने एक अनिवार्य कर्त्तव्य की पीठिका पर ही नहीं प्रतिष्ठित किया है वरन् उसे पूरी दार्शनिक सम्पुष्टि प्रदान की है, वहाँ उन्होंने युद्ध को एक हीनतर मानवीय विवशता के रूप में दूसरे और उतने ही मान्य महापुरुष राम द्वारा निरूपित कराया है। राम का संशय किसी बड़े निर्णय के बोझ मे दबाया जा सके यह उद्देश्य कवि का है ही नही। उद्देश्य तो यह है कि वह संशय ही अपनी विराटता के साथ झंकृत होता रहे और मानवता उस मार्ग की तलाश की ओर उन्मुख हो जिसमें युद्ध एक अनिवार्यता न रह सके।

युद्ध की बर्बरता और अमानवीयता की कल्पना से राम के मन मे युद्ध के पूर्व संशय उत्पन्न होता है और युधिष्ठिर के मन को युद्धोपरान्त हिमालय यात्रा के क्षणो में युद्ध से जुड़ी सारी स्मृतियाँ झकझोरती रहती है। कृष्ण के पुष्ट तर्कों और दार्शनिक उद्बोधन ने अर्जुन के मोह को तो समाप्त किया और वह भयानक युद्ध भी हुआ परन्तु उस युद्ध के भयानक नरसंहार और रक्तपात के पश्चात् उस राज्य का भोग पाण्डवों के लिए सम्भव नही हो सका। उनका मानस परिताप और पापबोध से जलने लगता है और अन्ततः वे हिमालय मे गलने को चल देते हैं। इसी 'महाप्रस्थान' के प्रसंग को लेकर श्री नरेश मेहता का दूसरा खण्डकाव्य रचा गया है। यह खण्डकाव्य उस सारे मानसिक ऊहापोह को प्रस्तुत करता है जो हिमालय में यात्रा के क्षणो-पाण्डवों और द्रौपदी के मन में होता चलता है। पहले द्रौपदी हिम में डूबती है, फिर नकुल-सहदेव फिर अर्जुन और अन्ततः भीम और सर्वान्त में युधिष्ठिर। इस यात्रा में जो पाण्डवों के मन की अन्तर्यात्रा हुई है, जिसे एकालाप और संलापों के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्त किया है उससे एक बार फिर उसने आधुनिक युग के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को छेड़ा है। युद्ध की भयावहता और राज्य तथा व्यक्ति के सम्बन्ध के अत्यन्त आधुनिक पक्ष इस खण्ड-काव्य में उभरते है।

युद्ध तो नरेश मेहता के चिन्तन को सर्वाधिक उद्वेलित करनेवाला मानव व्यापार है। सचमुच युद्ध मानवीय संस्कृति की सबसे भयानक दुर्घटना है।

इसमें सब कुछ समाप्त हो जाता है। सारी मर्यादाएँ नष्ट हो जाती है। हिमालय जाते हुए युधिष्ठिर जो एक पूर्ण निर्वेद की मन:स्थिति मे हैं, कहते है :

"मूल्य और मानवीय उदात्तताएँ
जब सार्वजनिक जीवन से
हो जाती हैं शेष
तभी हो जाता है युद्ध
युद्ध का घोष
युधिष्ठिर हो
या हों कृष्ण
युद्ध का एक मात्र है नर्क
विजय के सम्मुख
मूल्यवानता का क्या है अर्थ ??"

(महाप्रस्थान)

युद्ध की स्मृतियाँ युधिष्ठिर के मन को पूरी तौर पर हिलाकर रख देती हैं। वे पश्चात्ताप की मूर्ति बन जाते है। उन्हे लगता है इस युद्ध ने सबका विवेक, सबकी मर्यादा, सबकी मानवीयता को क्षरित कर दिया।

"युद्धों, प्रतिहिंसाओं के दावानल में
न कृष्ण, न पार्थ
न तुम, न मैं
कोई भी सुरक्षित नही रह पाता।"

युधिष्ठिर को लगता है कि जिस राज्य के लिए यह युद्ध हुआ वह राज्य ही कौन-सी मूल्यवत्ता का पोषक है ? सारे अन्यायों का उत्स तो यह राज्य ही है। अपनी प्रकृति को उद्घाटित करते हुए युधिष्ठिर भीम से कहते है :

"भीम !
मैं राज्यान्वेषी नही
मूल्यान्वेषी रहा हूँ।
राज्य जैसी अपदार्थता के लिए
अपने ही रक्त
कौरवों का नाश ?

मेरे लिए असम्भव था बन्धु
असम्भव था।''

(महाप्रस्थान)

युधिष्ठिर भी राम की भाषा बोलते हुए कहते हैं कि मनुष्य में जो श्रेष्ठ तत्त्व है उन्हें ही जगाना होगा। मनुष्यता के त्राण का एक मात्र रास्ता वही है, और कोई विकल्प नहीं है। करुणा, अहिंसा, प्रेम का अलख जगाये बिना मानवता इस प्रतिहिंसा और युद्धों के रास्ते चल कर हमेशा भटकती रहेगी। आज के गांधी का भी तो यही तर्क रहा है। मनुष्य को मनुष्य बनाना ही सबसे बड़ा अभियान है। युधिष्ठिर कहते हैं :

''किसी भी साम्राज्य से बड़ा है
एक बन्धु
एक अनाम मनुष्य !!
मुझे मनुष्य में विराजे देवता से
सदा विश्वास रहा है,
इस देवता के जाग्रत होने की प्रतीक्षा में
मैं अनन्तकाल तक प्रतीक्षा कर सकता हूँ भीम !''

यही प्रतीक्षा तो मानव को करनी है। आज इस प्रतीक्षा की इस विश्वास की सबसे बड़ी प्रासंगिकता है। दो-दो विश्व युद्धों ने संसार को पूरी तौर पर हिला दिया है। तीसरा विश्वयुद्ध सम्पूर्ण मानवता के सर्वनाश का पर्याय बनने वाला है। यदि मनुष्य ने अहिंसा का, प्रेम और परस्पर विश्वास का भाव नहीं अपनाया, यदि वह और श्रेष्ठ मानव नहीं बन सका तो उसका सर्वनाश निश्चित है। इसीलिए अब वे पुराने तर्क झूठे पड़ गये हैं जिनमें हम कहते हैं कि अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध खड्ग हस्त होना ही मनुष्य का धर्म है। आज तो हमें उससे कहीं बड़ी आस्था को, मानव-विश्वास को जगाना है। युधिष्ठिर का यह कथन आज के मनुष्य का मूल मंत्र होगा :

''सामने वाला यदि अविवेक में
पशु हो गया हो
तो विवेक के रहते प्रतीक्षा करो
उसके पुनः मनुष्य होने की।''

(महाप्रस्थान)

आज या तो मानवता बुद्ध, ईसा और गान्धी की राह पकड़ेगी या समाप्त हो जायेगी। हिंसा अपने ही तर्क में आज परास्त हो रही है। हिंसक शक्ति का इतना बड़ा अम्बार आज विश्व में खड़ा हो गया है कि उसकी सर्वनाशी और सर्वग्रासी क्षमता पूरे मानव विवेक को प्रकम्पित कर रही है। युधिष्ठिर की यह करुण अभिव्यक्ति आज के मनुष्य की सबसे बड़ी प्रेरणा स्रोत बनेगी :

'करुणा मेरा धर्म है भीम !
किसी भी सम्बन्ध
साम्राज्य या शक्ति के सामने
मैं इसे नहीं छोड़ सकता।
विश्वास करो
धर्म के मूल्य पर
मैं स्वर्ग भी अस्वीकार कर सकता हूं भीम !''   (महाप्रस्थान)

यही धर्म-भाव आज मानवता को परित्राण दिला सकेगा। इस विराट मानवीय धर्म-भाव में कहीं कोई संकीर्णता नहीं है, कहीं कोई सम्प्रदायवाद नहीं है कहीं कोई कर्मकाण्ड नहीं है। यह मानव की उस गहन आस्था का निर्माता है जो उसे सारी विकृतियों में भी थामे रहता है, धारण किये रहता है। उसको परिभाषित करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं : 'करुणा मेरा धर्म है भीम !' यही करुणा जो युगों-युगों से मनुष्य को, मनुष्यता को त्राण देती आई है, उबारती आई है। इस महाप्रस्थान में जब सभी हिम में डूब जाते हैं केवल पार्थ, भीम और युधिष्ठिर बचते हैं तो उनके बीच जो संवाद होता है उसके माध्यम से कवि ने राज्य और राज्य-व्यवस्था से जुड़े अनेक आधुनिक प्रश्नों को उभारा है, जिनकी संगति आज के युग से सीधी जुड़ी है। आज राज्य जिस विराट शक्ति का प्रतीक बन गया है, मनुष्य जिसके सामने एकदम बौना और असहाय हो चुका है, उसी की विवेचना करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं :

''युद्ध, राज्य, साम्राज्य, सम्पदा, सम्बन्ध
इन सबकी सीमाएं है पार्थ !
ये ही
वे कुचक्र है
जिन्हें व्यक्ति
अपने चारों ओर बुन लेता है
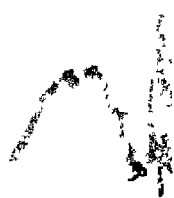
और फिर कभी
इस सफलता की सुगन्ध के परिवृत्त में
बाहर आना ही नहीं चाहता !" (महाप्रस्थान)

सांसारिक सुविधाओं का जो महाजाल पूरी मानवता को प्रारम्भ से ही घेरे हुए है आज अत्यधिक शक्तिशाली हो चुका है। आज वस्तुएँ मनुष्य की सारी मूल्य-दृष्टि के केन्द्र में आती चली जा रही हैं। विज्ञान ने अपने अन्वेषण की दिशा इन्हीं सुविधाओं को अर्जित करने की मानवीय क्षमता की ओर मोड़ दिया है। परिणामस्वरूप पूरे विश्व में एक दौड़ चल पड़ी है। मनुष्य की इन्द्रियाँ धीरे-धीरे अकर्मण्य होती जा रही हैं। उसकी त्वचा ऊष्मा और शीत के थपेड़ों को झेल नहीं सकती, उसके पाँव धरती के ऊपर अधिक चल नहीं सकते, उसके हाथ कठोर और थकाने वाले कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकते। वह चारों ओर से एक विशेष आच्छादन में ढकता चला जा रहा है। प्रकृत जीवन और प्रकृति से उसका साक्षात्कार न्यूनतम होता जा रहा है। इन्हीं वस्तुओं के अर्जन में मनुष्य का सब कुछ दाँव पर लगता जा रहा है। इस सन्दर्भ में युधिष्ठिर की यह उक्ति कितनी प्रासंगिक लगती है :

"ये वस्तुएँ
ये सफलताएँ
एक दिन उसका पर्याय बन जाती हैं।" (महाप्रस्थान)

वह दिन आज आ चुका है। सचमुच मनुष्य की आकांक्षा इन्हीं वस्तुओं में सिमट कर रह गई है। बड़े-बड़े राजपुरुष इन्हीं में आपादमस्तक डूबे हुए हैं और मध्यवर्ती विशिष्ट जन इसी दिशा में भागते जा रहे हैं। परन्तु युधिष्ठिर धीर गम्भीर स्वर में कहते हैं :

"ये दुर्ग, प्रासाद, स्मृति भवन
चारण-प्रशस्तियाँ
ये झूठे इतिहास वाले शिलालेख
व्यक्ति को अमरता देंगे ?" (महाप्रस्थान)

और अन्त में जब दो भाई हिमार्पित हो जाते हैं तो युधिष्ठिर अर्जुन से कहता है :

कभी उन
विचारहारा साधारणजनों के बारे में सोचो—

जो सदा अपमानित होते रहे हैं।
जिनके स्वत्व का अपहरण ही
हमारे ये दीमित साम्राज्य है।'' (महाप्रस्थान)

आज के युग में 'सर्वहारा' की बात बहुत अधिक की गई है। और जब भी इस शब्द का प्रयोग हुआ केवल आर्थिक दृष्टि ही प्रधान रही है। अर्थ से सम्पूर्ण रूप से वंचित जन को सर्वहारा कहा गया। नरेश जी की दृष्टि में इस 'सर्व-हारा' जन से भी अधिक विपन्न वह है जो 'विचारहारा' है। आज के युग का सबसे बड़ा शोषण उस 'विचारहारा' साधारण जन का हुआ है। वह अपने स्वत्व से अपनी सम्पूर्ण वैचारिक क्षमता से रहित कर दिया गया है। और व्यक्ति को उस विचाररहितता की स्थिति में पहुँचा कर ही तो राज्य अपने को निरापद महसूस करते हैं। आर्थिक सुविधाओं को प्रदान करके भी मनुष्य को इस विचाररहितता का शिकार बनाया जा सकता है यह बात इस युग की सबसे बड़ी विडम्बना है जिसे नरेश मेहता अच्छी प्रकार जानते हैं। इसीलिए उनका क्षोभ सबसे अधिक राज्य और राज्य-व्यवस्था पर है :

''सारे मानवीय दु:खों का आधार
यह राज्य है
राज्य व्यवस्था है
और राज्य व्यवस्था का दर्शन है।'' (महाप्रस्थान)

आज के चिन्तन का सबसे बड़ा दिवालियापन यह है कि जिस दर्शन ने यह प्रतिपादित किया कि सर्वहारा की क्रान्ति की सबसे महान् उपलब्धि यह होगी कि राज्य मुरझा कर समाप्त हो जायेगा उसी दर्शन को आधार बनाकर चरितार्थ होने वाली क्रान्तियों ने राज्य को सबसे अधिक शक्तिशाली बनाया। इस फ़ौलादी राज्य-व्यवस्था के नीचे मनुष्य की सारी अस्मिता चीत्कार कर रही है। इसीलिए कवि ने युधिष्ठिर के माध्यम से इस राज्य और राज्य-व्यवस्था का पूरी तौर पर निषेध किया है।

महाप्रस्थान के अन्तिम चरण में जब सभी भाई हिमाच्छादित हो उठते हैं और अन्तत. कायारूप भीम भी, तो युधिष्ठिर अपने निपट एकाकी क्षणों में अपने से ही एकालाप करते हुए कहते हैं :

''हमने समय और पृथिवी
दोनों में से अपने लिए

एक साम्राज्य नराण लेना चाहा था
पर
इस अस्तगामी धरती
और स्रावित समय के साथ
जो मानवता कट गयी थी
उसकी आर्तता के जयघोष में ही
मैं सम्राट बना था
मैं नहीं जानता था कि
प्रत्येक राज्याकांक्षी
वृद्धक्षत्र ही होता है
जिसकी गोद में
कटी हुई मानवता
जयद्रथ का रक्त-रंजित सिर होती है।" (महाप्रस्थान)

इस गहन आत्मसाक्षात्कार के क्षण में स्वर्ग के द्वार पर पहुँच कर युधिष्ठिर के मुख से निकले वे शब्द कितने प्रासंगिक हैं :

"सृष्टि-करुणा के बदले
मैं स्वर्ग भी नहीं स्वीकारूँगा।" (महाप्रस्थान)

इस उक्ति से राम का कथन कि रक्त पर पग धरती आती हुई हमे सीता भी नही चाहिए और गान्धी की यह प्रतिज्ञा कि सत्य और अहिंसा से वंचित होकर मुझे भारत की स्वतंत्रता भी नही चाहिए कितना मेल खाता है। वास्तव मे समस्या यही है कि मनुष्य का निस्तार किस पथ पर चलकर है संघर्ष के पथ पर या सामरस्य के पथ पर, क्रोध के पथ पर या करुणा के पथ पर, हिंसा के, प्रतिशोध के पथ पर या अहिंसा और प्रेम के पथ पर। नरेश मेहता की दृष्टि साफ है। आज यह प्रश्न और भी गहराई से हमें झकझोरता है और मनुष्यता की आज की दिशा करुणा, प्रेम और अहिंसा की दिशा है, समरसता और सौहार्द की दिशा है। शेष सारे मार्ग हमें बर्बरता की ओर ले जाने वाले हैं।

'शबरी' नरेश मेहता का तीसरा खण्ड काव्य है। इस रचना के माध्यम से कवि एक दूसरे अत्यन्त संवेदनशील पक्ष को उभारता है। इस देश मे जाति और वर्ण की इतनी जड़ीभूत व्यवस्था है, जिसने बहुत-सी गतिशीलता को अवरुद्ध और शिलीभूत किया है। वर्णाश्रम व्यवस्था अपनी मूलभूत परि-कल्पना में निश्चय ही समाज को व्यवस्थित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण

और श्लाघनीय व्यवस्था रही होगी। किसी भी समाज में सभी लोग समान रूप से विद्या- व्यसनी नहीं होते, ज्ञान और आत्म-प्रकाश के लिए अन्य सुख-सुविधाओं को तिलाजलि देने का भाव नहीं रखते। इसी प्रकार किसी समाज के सभी लोग अपने को जोखिम में डालकर शस्त्रधारी नहीं बनना चाहते। सभी के वश में व्यवसाय और वणिक वृत्ति नहीं होती। जो इन कार्यों में दक्ष न हो उन्हें समाज की सेवा में लगने का विकल्प होता था। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय वणिक और शूद्र वर्णों में समाज को व्यवस्थित करना समाज का विभाजन नहीं था बल्कि श्रम का ही विभाजन था। और जिस वृत्ति में जिसका मन लगे उसे उसी दिशा में सक्रिय करने का ध्येय था। निश्चय ही समय के साथ ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय और इसी प्रकार वणिक और शूद्र के पुत्र वणिक और शूद्र होने लगे। कर्म की प्रवृत्ति आखिर वंशगत भी तो होती ही जायेगी। जो लोग जन्मना जाति प्रथा के घोर विरोधी है उन्हें भी यह सत्य तो पहचानना ही होगा कि अधिकाशतः हम उसी कार्य-व्यापार में निपुण होते हैं जिसमें हमारे पिता-माता दक्ष होते हैं। धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था रूढ़ और जड होती गयी। ब्राह्मण निरक्षर होकर भी ब्राह्मण बना रहा और क्षत्रिय क्लीव होकर भी क्षत्रिय। इसी प्रकार सारे गुणों से सम्पन्न होकर भी शूद्र के लिए सेवा का ही विकल्प शेष रहा। फिर यह व्यवस्था समाज को विभक्त ही नहीं करने लगी, उसे घुन की तरह चाटने भी लगी। शूद्र सेवक ही नहीं, अस्पृश्य भी बनता गया।

इसी परिप्रेक्ष्य में रामकथा में शबरी आती है, जिसके जूठे फलों को राम पूरी आत्मीयता से खाते है। इस कथा में कई आयाम है। एक सर्व परिचित आयाम भक्ति का है। शबरी एकनिष्ठ भक्त थी और प्रभु ने उसकी भक्ति का अपार प्रतिष्ठा दी, उसके प्रेम को एक महनीयता प्रदान की। परन्तु नरेश मेहता इस कथा में एक नया आयाम उभारते हैं जो उनकी निम्न पंक्तियों में ध्वनित है—

"शबरी अपनी जन्मगत निम्नवर्गीयता को कर्म दृष्टि के द्वारा वैचारिक ऊर्ध्वता में परिणत करती है। यह आत्मिक या आध्यात्मिक संघर्ष, व्यक्ति के सन्दर्भ में मुझे आज भी प्रासंगिक लगता है। सामाजिक मूढ़ता, परिवेशगत जडता तथा अपने युग के साथ संलापहीनता की स्थिति में व्यक्ति केवल अपने को जाग्रत कर सकता है। इसी संघर्ष के माध्यम से 'स्व' 'पर' हो सकता है, व्यक्ति समाज बन सकता है।"

(भूमिका-'शबरी')

व्यक्ति की अस्मिता का आग्रह और प्रतिष्ठा आज के युग का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि व्यक्ति ही सर्जक होता है, व्यक्ति ही सभी कर्मों का उत्स होता है और व्यक्ति ही अन्तत समाज का निर्माता होता है। व्यक्ति और समष्टि के परस्परावलंबन और उनके बीच के स्वस्थ अन्त सम्बन्धो की तलाश आज के युग की सबसे महत्त्वपूर्ण तलाशो में एक है। निम्नतम धरातल पर फेंका हुआ व्यक्ति भी अपनी अस्मिता को जगाकर अपने भीतर के प्रकाश को आलोकित कर महान् से महान् लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सत्ता को अपने मे युक्त कर सकता है। शबरी इस अस्मिता बोध का प्रतीक-चरित्र है।

दूसरा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस खण्ड-काव्य में उभारा गया है नारी और पुरुष के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ। सनातन काल से और आज के आधुनिक युग तक समाज स्त्री और पुरुष के एक सम्बन्ध को ही स्वीकार करता आया है—लैगिक सम्बन्ध। जब भी नारी और पुरुष इस लिंगीय परिधि का अतिक्रमण करके व्यक्तिरूप मे एक दूसरे के सामीप्य के आकांक्षी हुए, चाहे वह सखा या मैत्री का सम्बन्ध हो या गुरु और शिष्या का सम्बन्ध, हर बार समाज ने उन्हे यौन-सीमा में ही देखा और स्वीकार किया। मनुष्यता इस बिन्दु पर आकर बार-बार टकराती और विफल होती रही है। कवि ने 'शबरी' मे भी इस सनातन प्रश्न को नयी अर्थवत्ता से उभारा है। शबरी शूद्रा है, अस्पृश्य है, परन्तु इन सबसे कठिन पक्ष यह है कि वह स्त्री है। मतंग एक महान् ऋषि है, ज्ञान और साधना के अपूर्व संगम है, परन्तु ऋषित्व को यह छूट नहीं है कि वह एक शूद्रा की पावता को स्वीकार करे। जब ऋषि इस सीमा का अतिक्रमण करते है और शबरी को अपनी गोशाला मे स्थान देते है तो अन्य शिष्यो के कान खड़े होते है। उन्हे कुछ जुगुप्सा की गन्ध सी मिलने लगती है। ज्यों-ज्यो ऋषि मतंग शबरी की तपश्चर्या से प्रभावित होकर उसे अधिक आत्मीयता, स्नेह और आशंसा देते है त्यों-त्यों वे सन्देह और संशय के घेरे में बँधते जाते है। अन्य आश्रमवासी क्या आश्रम मे यह सब चलने देंगे? और बात यहाँ तक बढ़ती है कि आश्रमवासी ऋषि को, अपने गुरु को बहिष्कृत करने का निर्णय लेते है :

"करना ही होगा वर्जित
दासी शबरी, जो शूद्रा
ऋषि का चरित्र यह कैसा!
क्या मिल सकती है शिक्षा?

स्वीकार न हो यदि उनको
सारे समाज का निर्णय,
तो बहिष्कार करने का
करना ही होगा निश्चय ।''

दूसरी ओर ऋषि को अपनी प्रज्ञा पर, अपनी साधना और अपने विवेक पर पूरी आस्था है। वे शबरी के साथ पृथक आश्रम बनाकर चले जाते हैं। और अन्ततः जब राम आकर शबरी की भक्ति श्रेष्ठता पर मुहर लगाते हैं तभी ऋषि का समाज भी उन्हे स्वीकार करता है। कवि ने इस सम्बन्ध को लेकर एक आत्म-मन्थन की प्रेरणा दी है। गौतम बुद्ध से लेकर गाँधी तक जब-जब किसी विराट् पुरुष ने इस सम्बन्ध की सीमा को नया आलोक देना चाहा, समाज शंकालु हो जाता रहा है। क्या सारे मानवीय सम्बन्ध शरीर की सीमा मे ही बँधे है ? क्या हृदय की अन्य गहरी प्रेरणाएँ या आत्मा की उदात्तता को पहचानने की दिशा में मनुष्य जरा भी आगे बढने को तैयार नही हैं ? जब-जब उसे दो स्त्री-पुरुष साथ दीखेंगे वह केवल उनसे यौन आकर्षण को ही केन्द्रीय सम्बन्ध के रूप में देखेगा ? यह प्रश्न आज भी उतना ही अनुत्तरित है, उतना ही ज्वलंत है, जितना ऋषि मतंग और शबरी के सन्दर्भ में था। और आज भी मानवीय सम्बन्धों की गरिमा को नया आधार देने की आवश्यकता उतनी ही प्रचण्ड है जितनी युगों पूर्व थी। मनुष्य अपनी सभ्यता और संस्कृति की लम्बी यात्रा के उपरान्त भी किन्हीं-किन्ही बिन्दुओं पर उतना ही आदिम है, उतना ही अविश्वसनीय है।

आज की आधुनिकता की दिशा यह तो है कि वह नारी-पुरुष के बीच स्वच्छन्द यौन सम्बन्ध की वकालत करे, परन्तु यह कि स्त्री-पुरुष साथ-साथ वासना मुक्त होकर भी रह सकते हैं, यह उसकी प्रतिज्ञा नही है। मनुष्यता को इस धरातल की उपलब्धि करनी ही है, जहाँ स्त्री-पुरुष अपनी लैंगिक सीमा का अतिक्रमण करके अपने हृदय एवं आत्मा की अन्य विशिष्टताओं एवं आकर्षणों के आधार पर एक दूसरे का सामीप्य पा सकें।

परन्तु शबरी की मूल संवेदना व्यक्ति की अपनी अस्मिता को प्रमाणित करने की ही है। शबरी उस संकल्प-यात्रा में पूरी तौर पर खरी उतरती है। राम जब उसके आश्रम मे आते हैं तो शबरी की अभ्यर्थना जिन शब्दों मे करते है, वे विचारणीय हैं :

'शबरी अन्त्यज है तो क्या
वह शक्ति रूप है शूद्रा,
है तेज रूप वह केवल
शिव शक्ति रूप है शूद्रा।'

और इस काव्य की अन्तिम पंक्तियाँ जैसे पाठक को चुनौती के रूप में याद रह जाती है

'शूद्रा में शक्ति बनी वह
सम्भव सब कुछ जीवन में।'

मानव जीवन की इस सकल-सम्भवा क्षमता को प्रतिष्ठित करना ही कवि का उद्देश्य है। मनुष्य का संकल्प, उसकी प्रज्ञा, उसकी एकान्त निष्ठा और उसकी अविचलित कर्म शक्ति सब कुछ को सम्भव कर सकती है, यही इस खंड-काव्य की अन्तिम ध्वनि है।

कवि का अब तक का अन्तिम खंड-काव्य 'प्रवाद पर्व' कई दृष्टियों से एक विशिष्ट धरातल वाली रचना मानी जायेगी। सनातन मूल्यों से टकराने वाला कवि इस खंड-काव्य में ऐसी चुनौतियों से जूझता है जो तत्कालीन सन्दर्भ में जलती हुई सच्चाइयाँ बनकर आई थी। कहने को यह काव्य भी एक प्राचीन कथा पर ही आधारित है—एक धोबी के कथन में व्यंजित शंका के आधार पर राम द्वारा जानकी का घर से निष्कासन। परन्तु कवि ने इसे एकदम नये कोण से प्रस्तुत किया है। वह धोबी एक अनाम, साधारणजन के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसकी शंका की तर्जनी एक साधारण अनामजन की तर्जनी बन गई है। राज्य जब-जब एकाधिकारवादी बनता है उसे सदा से ही यही साधारणजन अपनी अनाम तर्जनी उठाकर चुनौती देता रहा है और यह चुनौती सदा से ही अत्यन्त शक्तिमान सिद्ध होती रही है। इस खण्ड-काव्य में राज्य की निरंकुश सत्ता के मुकाबले में उठी साधारणजन की इस तर्जनी की ही प्रतिष्ठा है। इसीलिए इस खण्ड-काव्य में सीता के साथ हुए राम द्वारा अन्याय की बात दबी ही रह जाती है। उस पक्ष को कवि ने अपना कथ्य नहीं बनाया है। इस खण्ड-काव्य का रचना काल सन् '७५ के पूर्व का काल है और तत्कालीन भारतीय समाज और राजनीति का जलता हुआ सत्य ही इस खण्ड-काव्य की मूल-प्रेरणा है जिसे हम अग्रलिखित पंक्तियों में पहचान सकते हैं—

"सम्भव है
राजभटों के दस्ते या
जयघोषों में उठे हाथों की उठी भीड
इस अनाम साधारणजन की तर्जनी को
घेर ले
और उसे/अस्तित्व के कंगूरों से ही
धकेल दे,
सम्भव है
इस इतिहासहीन साधारणजन को
उसके देशज नाम के
छोटे से सज्ञा-इतिहास से भी
वंचित कर दिया जाये
जैसे यज्ञ के लिए
अज कर दिया जाता है,
परन्तु
वर्चस्व की इस प्रामाणिकता को
जो उसे प्रतिइतिहास बनाती है
समूल नष्ट कैसे किया जा सकता है ?"

इतना ही नहो कवि निभ्रान्त शब्दों में कहता है कि 'जब-जब लोगो को इतिहास-हीन करने की चेष्टा की गई है, तब-तब वे लोग इतिहास की आग पर चलकर पुराण-पुरुष बन जाते है।' हम सभी लोगों ने आपात्-काल के भारत को देखा है और भोगा है और किस प्रकार और किस सीमा तक मनुष्य को, साधारण मनुष्य को इतिहास-हीन बनाने का हौसला उस समय की राज-सत्ता में प्रदर्शित होता था, यह सब हमारी अनुभूत सच्चाइयां है। कवि का संवेदनशील मानस जन-भावना को इस प्रकार पादाक्रान्त होते नहीं देख सकता था। वह केवल चीत्कार नहीं करता है, जो एक भाव-प्रवण कवि के लिए सहज मार्ग हो सकता था, जिसमें उसकी संवेदनशीलता भी ध्वनित हो लेती और उसकी ईमानदारी भी व्यंजित हो लेती। कवि ने उस चुनौती को स्वीकार किया है और उससे मुक्त होने का भावात्मक संकेत प्रस्तुत किया है। उसका यह अखण्ड विश्वास है कि साधारणजन की चेतना को रौंदने का प्रयास कभी भी अन्ततः सफल नहीं होता। इसीलिये राम का रास्ता वह नहीं है। राम जानते हैं :-

'इतिहास/खड्ग से नहीं
मानवीय उदात्तता से लिखा जाना चाहिए।
क्या होगा/इतिहास को इतना दास बनाकर कि
वह राजभित्तियों पर चित्रित तथा
शिलालेखों पर उत्कीर्णित
हमारी चारण-गाथा लगे;
और जीवन्तता के अभाव में
उन चित्रों शिलालेखों को
काल/अपने में लीन कर
इतिहासहीन कर दे।'

इसीलिए राम उस अनाम जन की तर्जनी को महत्ता देते हैं। उसकी शंका की तर्जनी को शमन करने के लिए दमन का रास्ता नहीं वरन् परीक्षा का रास्ता चुनते हैं। परन्तु जिस युग-सन्धि पर यह काव्य लिखा गया था, उस समय की राजसत्ता को यह स्वीकार नहीं था। वह तो सम्पूर्ण नागरिकता को पद-मर्दित कर रही थी। उसकी भृकुटि-विलास पर पूरा देश नर्तन कर रहा था। उस समय नरेश मेहता ने जिस नैतिक दायित्व-बोध का परिचय निम्न पंक्तियों में दिया है, वह निश्चय ही श्लाघनीय है।

"व्यक्ति
चाहे वह राजपुरुष हो या
इतिहास-पुरुष अथवा
पुराण-पुरुष
मानवीय देश-कालता से ऊपर नहीं होता राम!
इतिहास से भी बड़ा मूल्य है
सत्य—
परात्पर सत्य, ऋत—
और
यही तुम्हारी चरित्र मर्यादा है
ऋतम्भरा व्यक्तित्व है।"

(प्रवाद पर्व)

कवि राजसत्ता से बड़ी जनसत्ता को और उसे भी सत्य और ऋत से जोड़ कर ही स्वीकृति देता है। राम की सभा में जब इस समस्या पर विचार किया

जाता है कि एक साधारण धोबी ने सीता जैसी निष्कलंक, पावन एवं महिमामयी नारी पर शंका की अंगुली उठा कर कितना धृष्ट दुस्साहस किया है तो राम उसे बिल्कुल ही एक नया कोण देते हैं। राम की चिन्ता यह नहीं है कि उस धोबी की शंका साधार है या निराधार। राम के सामने यह प्रश्न बिल्कुल दूसरे छोर पर अंकुरित होता है क्या यही शंका यदि यह साधारण व्यक्ति किसी साधारण नारी के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गयी होती तो हमें कोई आपत्ति होती ? क्या तब उसकी शंका पूरी वेगवत्ता और आक्रामकता के साथ उस नारी-चरित्र को तहस-नहस करने में कुछ कम प्रभावकारी होती ? क्या कोई बात अपने निहितार्थ को खो देती है, जब उसका इशारा किसी उच्चासीन व्यक्ति की ओर हो ? राम स्पष्ट शब्दों में कहते हैं

> 'सत्ता के गोमुख पर बैठ कर
> उसके सारे शक्ति-जलों को
> अपने ही अभिषेक के लिए
> सुरक्षित रखना—
> यह कौन सा दर्शन है लक्ष्मण ?'

परन्तु यही तो होता है। सदा सत्ता के गोमुख पर बैठने वाला शक्ति के सम्पूर्ण जल को अपने ही अभिषेक के लिए सुरक्षित रखना चाहता है। यही अपनी पूरी भयानकता और बर्बरता के साथ तब भी हो रहा था, जब यह खण्ड-काव्य लिखा गया। उस काल की कठोर संज्ञा-शून्यता में कवि की चेतना जितनी मर्म-बेधी आवाज अपने भीतर से सुन रही थी, उसे उसी चुनौती भरे लहजे में उसने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसी लिए वह कालखण्ड, उसकी पूरी मानसिकता उसे 'प्रवाद-पर्व' सरीखी लगती है। उसे स्पष्ट लगता है कि अनाम जन की अस्मिता को रौंदने की यह कोशिश जल कर भस्म हो जाने वाली है। उसने उस अवश्यम्भावी परिणाम को अपने प्रज्ञा चक्षुओं से स्पष्ट देखा है, जो इन पंक्तियों में ध्वनित होता है :

> "इतिहास भी आग होता है
> और आग पर
> कोई और नहीं
> केवल पिपीलिका ही चल सकती है,
> संज्ञाहीन पिपीलिका !!

साधारण जन के पास
कब भाषा रही है ?
वह तो सदा देह से ही बोलता आया है।
हाथ
झुकाया जा सकता है
पर
एक अनाम साधारण जन की तर्जनी—
समय के पत्रों
और लोगो के इतिहास-निरीह नेत्रों मे
जब
एक जलता प्रश्न
उत्कीर्णित कर देती है
जैसे प्रति-शिलालेख हो,
तब
उसे किस राजाज्ञा
या राज दण्ड
या आदेश खुदे शिलालेखों मे
अनहुआ किया जा सकता है राम ?"

(प्रवाद पर्व)

इस देश का तत्कालीन सन्दर्भ कितने ज्वलंत रूप से इस काव्य में ध्वनित हुआ है, इसे हम सब अच्छी प्रकार जानते है। सन '७५ से '७७ तक का आपात् काल सचमुच भारतीय अस्मिता को संज्ञा शून्य बनाने का अप्रतिम प्रयोग था। सारी आवाजे खामोश की जा रही थी। चारों ओर राजभटों के दस्ते घूमते थे। राजपुरुष सम्पूर्ण देश की छाती पर अपने चारणों के साथ विचरण कर रहे थे। चारों ओर एक मूक प्रतिरोध विचित्र प्रशान्त संकल्पशीलता के साथ निर्मित हो रहा था, जिसकी गन्ध भी राजसता को नही छू रही थी। और जब उस प्रतिरोध को मुखर होने का अवसर मिला तो लगा जैसे चमत्कार हो गया हो। सम्पूर्ण उत्तर भारत जैसे एक स्पन्दन से झंकृत हो उठा। कोई संवाद नही, कोई मुखर संकेत नहीं, परन्तु चारों ओर से एक ही निर्णय, एक ही संकल्प, एक ही दिशा, एक ही अभिव्यक्ति। यह निर्णय कोई मात्र सत्ता-परिवर्त्तन का निर्णय नहीं था। यह निर्णय किसी राजनीतिक दल की स्वीकृति का संकेतक नही था। यह तो साफ़-साफ़ एक खुली चुनौती बन कर आया

था कि यदि कोई राजसत्ता यह समझ ले कि वह पूरी साधारण जन की चेतना को रौंद कर निश्चिन्त और निष्कंटक हो जायेगी, तो यह उसका भारी भ्रम है। राजशक्ति उस कोटि-कोटि जनों के मूक संकल्प के समक्ष प्रणत होकर ही अपना अस्तित्व बनाये और बचाये रख सकती है। इसीलिए भरत और लक्ष्मण के सारे तर्कों को निरस्त करते हुए राम कहते हैं :

"केवल समदर्शी ही नहीं
उसे तत्वदर्शी भी होने दो।
राजभवनों और राजपुरुषों से ऊपर
राज्य और न्याय को
प्रतिष्ठापित होने दो भरत !
यदि ये तत्वदर्शी नहीं होंगे
तो एक दिन
निश्चय ही ये भय के प्रतीक बन जायेंगे।"

और यही तो हुआ था। राज्य और न्याय अपनी तत्वदर्शिता को छोड़ कर भय के प्रतीक बन गये थे। अन्ततः साधारण जन की चेतना ने उन्हें धराशायी किया। इसी प्रक्रिया में राज्य अपने सही स्वरूप को पहचान सकता है। वह बार-बार निरंकुश होने का प्रयास करता है, परन्तु साधारण जन की विपुल संकल्प-शक्ति उसे बार-बार धराशायी करके आत्मसाक्षात्कार और आत्म-परिष्कार की आँच में तपाती है। राम इस सत्य से परिचित थे अतः उन्होंने साधारण जन की साधारण तर्जनी को पूरी महत्ता दी और उसके संकेत पर अग्नि-परीक्षित सीता को पुनः वन के रास्तों पर चलना पड़ा। निश्चय ही सीता के साथ यह एक गहरा अन्याय था। इसे किसी तर्क या विवेक के सहारे औचित्य नहीं प्रदान किया जा सकता। परन्तु राम कथा के इस प्रसंग को नरेश जी ने जिस तात्कालिक सन्दर्भ से जोड़ा है और उसमें से राजसत्ता और साधारण जन के अन्तः सम्बन्ध का जो स्वस्थतम संकेत सूत्र निकाला है वह अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण और अर्थगर्भी है।

सातवाँ अध्याय

काव्य-भाषा और काव्यानुभूति

कवि-कर्म की सबसे बड़ी कसौटी भाषा है। किस बिन्दु पर अभिव्यक्ति, कविता बन जाती है और कहाँ वह केवल एक कथन-मात्र बन कर रह जाती है इसका निर्णायक तत्त्व भाषा ही है। अनुभूति और भाषा, भाषा और अनुभूति ये दो तत्त्व परस्पर एक दूसरे में घुलते हैं, एक दूसरे से टकराते हैं, एक दूसरे से चरितार्थ होते हैं। अनुभूति जहाँ एक ओर तात्कालिक परिवेश से उत्सर्जित होती है, रूपायित होती है, वहीं उसका उत्स रचनाकार की पूरी संस्कारिता मे होता है। वही संस्कारिता रचनाकार को उसकी भाषा देती है। किसी भी रचनाकार की भाषा में जहाँ एक ओर उसके युग का मिजाज, उसकी प्रवृत्ति, उसके द्वंद्व अंकित होते हैं, वहीं उसकी निर्मिति में रचनाकार के संस्कार, उसकी रगों में बहने वाले तत्त्व होते हैं। कवि जितना ही अपने कवि-कर्म के प्रति सजग और निष्ठावान होता है, उतना ही उसे अपनी भाषा-संस्कारिता को पहचानना पडता है। वह भाषा-संस्कारिता जहाँ कवि की पहचान पाठकों को कराती है, वहीं और उससे पूर्व ही, वह कवि के आत्म-साक्षात्कार की समस्या बन कर खडी होती है। जो कवि जितना शीघ्र अपनी भाषा को पहचान लेता है, वह उतना ही शीघ्र अपनी पहचान अपने पाठक वर्ग में संप्रेषित कर देता है। इसका यह अर्थ नहीं कि एक कवि सदा एक ही प्रकार की भाषा का प्रयोग करे या करना उसके लिए श्रेयस्कर है। निराला जैसा सशक्त कवि जहाँ 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति पूजा' में भाषा का एक स्वरूप निर्मित करता है, वहीं 'कुकुरमुत्ता' जैसी कविताओं में बिल्कुल एक भिन्न रूप भी प्रस्तुत कर लेता है। ऐसे प्रयोग किन्हीं अर्थों में सार्थक हैं, परन्तु एक लम्बे अर्से के बाद कवि के कृतित्व के मूल्यांकन के दौर में निश्चय ही कुछ कृतियाँ उसकी सहज रचनाधर्मिता से प्रसूत मानी जाती हैं, और कुछ उसके रचना शिल्प की सायास उपलब्धि।

नरेश मेहता की काव्य-भाषा उनकी काव्यानुभूति को कितनी सफलता से वहन कर पाती है या यूँ कहें कि उनकी काव्यानुभूति कितनी सच्चाई एवं खरेपन के साथ उनकी काव्य-भाषा में अनूदित हो पाती है, रचित हो पाती है, इसकी परीक्षा कोई सरल कार्य नहो है। क्योंकि यह कार्य शताब्दियों में पूरा होता है। विशेषकर महान कविता की सबसे बड़ी पहचान आज तक यही रही है कि वह समय की सीमा को किस हद तक तोड़ पाती है वाल्मीकि या कालि-दास, तुलसी या सूर इसी कसौटी पर महान कवि सिद्ध हुए हैं। अतः किसी भविष्यवक्ता की भाँति यह कहने की कोई सार्थकता नहीं कि आज की कविता का कौन-सा अंश दीर्घजीवी होगा। परन्तु जो भी कसौटी तात्कालिक रूप में हमे एक श्रेष्ठ काव्य की पहचान कराती है, वह यही है कि किसी कवि की संस्कारिता उसकी काव्यानुभूति और काव्य-भाषा को किस सीमा तक जोड़ पाती है और उस जोड़ मे वर्त्तमान की किस सीमा तक संगति और सार्थकता बैठती है तथा भविष्य को कितनी दूर तक आत्मसात् किया जा सका है। नरेश जी निश्चय ही इस दृष्टि से एक विशिष्ट रचनाकार हैं। उनकी भाषा न केवल अन्य सभी कवियों की भाषा से, जो उनके समकालीन हैं, अलग खड़ी है वरन् उस भाषा की खोज और उसके रूपायन मे कवि को गहरी साधना करनी पड़ी है बहुत कुछ झेलना पड़ा है।

भाषा को लेकर कवि की दृष्टि को हम उन्हीं के शब्दों में देखें : "प्रायः भाषा के स्तर पर ही अधिकांश कवि, काव्य-श्रोता एवं पाठक काव्यात्मकता की तलाश में रहते है। कितने जानते हैं कि काव्य, भाषा को शब्द और अर्थ से मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है। भाषा के बन्धन का नहीं मुक्ति का नाम काव्य है। शब्द में निहित अर्थ और संस्कार को जब तक काव्य, जाग्रत नहीं करता तब तक वह भाषा या शब्द की ऊपरी सतह शब्दता पर ही टकराता रहेगा। कठिन भाषा या सरल भाषा, शब्द की शब्दता का ही नाम है। काव्य में शब्द और अर्थ का प्रयोग उसके भोक्ता कवि और श्रोता दोनों को ही शब्द और अर्थ से मुक्त होने के लिए होता है। काव्य-भाषा और अर्थ इन तीनों से असंग मंत्रा-त्मकता ही शुद्ध काव्यात्मकता है। जिस प्रकार अग्नि, काष्ठ और हविष्य-जन्मा होने पर भी वह न लकड़ी है न हविष्य। उसी प्रकार काव्य शब्द और अर्थजन्मा होने पर भी वह न शब्द है न अर्थ।"

(भूमिका 'प्रवादपर्व')

कवि का उद्धरण उसके भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण को काफ़ी दूर तक साफ करता है। उसकी दृष्टि में 'काव्य भाषा को शब्द और अर्थ से मुक्ति दिलाने

की प्रक्रिया है।' अर्थात् श्रेष्ठ एवं सफल काव्य तब चरितार्थ होता है जब काव्य का रचयिता और उसके श्रोता-पाठक शब्द और अर्थ की सीमा का अतिक्रमण करके उस आनन्द भूमि पर पहुँच जाये जहाँ शब्दार्थ की सत्ता की अनुभूति भी नहीं रह जाय। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर शायद इसीलिए कहा गया है। इसी प्रकार काव्य भाषा-मुक्त होता जाता है। परन्तु इस कथन की सीमा भी सदा दृष्टि में रखना होगा। जब कवि यह कहता है कि काव्य भाषा को शब्द एवं अर्थ से मुक्ति दिलाने की प्रक्रिया है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि काव्य में भाषा का प्रयोग शब्दार्थ की चिन्ता से मुक्त होकर किया जा सकता है। बल्कि दूसरे छोर पर यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शब्दार्थ की श्रेष्ठतम पहचान और अभिव्यक्ति ही हमें काव्य के उस स्तर पर पहुँचाती है, जहाँ हम शब्दार्थ से परे जाकर केवल आनन्दानुभूति में ही तिरने लगते हैं। यह ठीक है कि अग्नि न काष्ठ है और न हविष्य, परन्तु काष्ठ एवं हविष्य के उचित एवं श्रेष्ठ प्रयोग में ही अग्नि उत्पन्न होती है। उसमें काष्ठ एवं हविष्य की उपेक्षा की गुंजाइश नहीं है। कवि की चिन्ता भी यही है कि शब्द की शब्दता में गहरे उतरा जाये और उस संवादात्मकता तक पहुँचा जाये जहाँ शब्द और अर्थ की सीमा समाप्त हो जाती है।

नरेश जी की भाषा का स्वरूप बहुत दूर तक इस देश की आर्ष-चिन्तन परम्परा में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। उनकी शब्दावली आर्ष-चिन्तन की शब्दावली है। जो पाठक जिस सीमा तक इस शब्दावली में इसकी अन्तरात्मा से परिचित है, उसे उसी सीमा तक नरेश जी का काव्य सुपरिचित लगेगा। उस चिन्तन और संस्कारिता से मुक्त व्यक्ति को नरेश जी का काव्य अपरिचित, अजनबी, कृत्रिम और आरोपित लग सकता है। जब वे कहते हैं :

> "आज का दिन
> एक वृक्ष की भाँति जिया
> और प्रथम बार वैष्णवी सम्पूर्णता जगी।"

तो वृक्ष की भाँति जीने की परिकल्पना और वैष्णवी सम्पूर्णता की अनुभूति केवल शब्द का अर्थ जानने से नहीं होगी, न ही इन शब्दों को शब्द-कोष के माध्यम से समझने वाला पाठक इन पंक्तियों के निहितार्थ तक पहुँच सकेगा। वृक्ष अपनी समूची फल सम्पदा को परार्थ अर्पित किये हुए, अपनी पत्तियों की छाया में श्रान्त पथिक को अविचल शान्ति प्रदान करने वाला और अपनी अस्थियों को दूसरों के लिए ऊष्मा देने का साधन मात्र समझने वाला वह समर्पणशील प्रतीक

है जिसे भारतीय मेधा बार-बार पहचानती है, पहचानती ही नहीं पूजा करती है। हमारे देश में वृक्ष-पूजा की एक शाश्वत परम्परा है आम्र मंजरियों की गन्ध ही हमें अभिभूत नहीं करती वरन् वृक्ष का समूचा-दर्शन हमें प्रेरणा और बल देता है। इसीलिए कवि जब यह महसूस करता है कि आज का दिन उसने एक वृक्ष की भाँति जिया तो उसके व्यक्तित्व में सम्पूर्ण वैष्णवी अनुभूति संचरित हो उठती है। क्या है यह वैष्णवी सम्पूर्णता ? 'वैष्णवत' केवल एक शब्द तो नहीं है, एक पूरी संस्कारिता है, पूरा जीवन-दर्शन है। कवि के ही शब्दों का प्रयोग करें तो 'जांगलिकता से सांस्कृतिकता की ओर, देह से मन की ओर, जड़त्व से चेतनत्व की ओर' जो मानवीय चेतना की यात्रा है उससे यह वैष्णव-भाव जुड़ा हुआ है। तो जो पाठक इस पुराण-परम्परा से विच्छिन्न है उसके लिए लिए 'वैष्णवी सम्पूर्णता' को समझ पाना उतना सुकर नहीं। एक-दो प्रयोग नहीं पूरा का पूरा नरेश मेहता का काव्य इस आर्य-सम्पदा से परिपूर्ण है। कहीं हम धूप को देववस्त्रा रूप में देखते है, तो कहीं वही धूप गौरा, साध्वी धूपा प्रतीत होती है। इसी प्रकार आकाश एक गायत्रिन के रूप में दिखता है। भारतीय चिन्तन परम्परा से अपरिचित व्यक्ति को गायत्रिन का अर्थ क्या इतनी आसानी से समझाया जा सकता है ? एक पूरा का पूरा रूपक अपनी भारतीयता में उभर आता है इन पंक्तियों में :

"कौन है आकाश में बड़ा गायत्रिन ?
जो उषा और सन्ध्या
दोनों गायत्रियों से युक्त है
जिसके प्रशान्त जलों में
आदित्य अपने अश्वों को नहलाता है,
जिसकी रात्रियों को
कालपुरुष
कम्बल की भाँति ओढ़े रहता है।
कभी ब्राह्म मुहूर्त्त में
मेघों का त्रिपुण्ड् लगाये
इस सात्विक को देखा है ?"

(गायत्रिन-उत्सवा)

प्राचीन अर्थ प्रतीकों का इतना सशक्त प्रयोग कवि ने किया है जिसे सहज ही आत्मसात करना सम्भव नहीं है। बार-बार जब ये प्रतीक मन में घुर

इते हैं. जब हम अपने प्राचीन साहित्य का गहराई से आलोडन करते हैं, उसके विभिन्न सांस्कृतिक धरातलों पर जब हम विचरण कर लेते हैं, तभी जाकर इन प्रतीकों और बिम्बों को हम सही रूप में ग्रहण कर पाते हैं। परन्तु नरेश मेहता की कवि-मनीषा जैसे निरन्तर उसी धरातल पर सृजन रत है। 'उत्सवा' की प्रत्येक कविता ऐसे ही प्रतीकों को अपनाती है।
देखें—

"पुराकथाओं के बाघम्बर लपेटे
वह आग्नेय नेत्री
रुद्र—
सूर्यों पर लेटा हुआ
संहार का धूम पी रहा है
और सृष्टि का प्रकाश उगल रहा है।
यह कैसा महाश्मशान का स्वर्गोत्सव है।
शक्ति के महाशव सदाशिव का
यह कैसा लीला भाव है?
यह किसका लीला भाव है?"

क्या इन पंक्तियों को किसी अन्य भाषा में अनूदित कर सकते हैं? और यदि करें तो बिना आर्ष-परम्परा से गहराई से परिचित पाठक उनके द्वारा कुछ स्वायत्त कर सकता है। 'व्यक्तित्व की वृन्दावनता' 'धरित्री की सरस्वती गन्धता' 'अग्नि की गैरिक करुणा', 'पीपल की वासुदेविक प्रकम्पितता', 'फूल की संवादात्मकता' 'रात और दिन के कृष्ण-शुक्ल स्वर', 'सूर्य की सुगन्ध', सावित्रियों का अरण्य-रास', 'कृष्ण-आकुल गोपिका नेत्रों जैसे श्यामल मेघ', 'वृन्दावनी सारस सी दाक्षिणात्य हवाएँ', 'कीर्तन-पुरुष', 'स्वस्तिक', 'शतपथ नदियाँ', 'समिधा', 'स्वाहा', 'मृगशिरा', 'पुनर्वसु', 'सूर्या', 'सुगन्ध-अनुष्ठान', 'नदी देहा गोपिकाएँ' 'प्रार्थना-अभिषेक' जैसे शब्द समूहों के प्रयोगों से जो बिम्ब या अर्थ निर्मित होते हैं उन्हें वही पाठक ग्रहण कर सकते हैं जिनका इस देश के प्राचीन ग्रन्थों से, ऋषि-परम्परा से और भारतीय चिन्तन-दृष्टि से गहरा परिचय हो। इसके अभाव में ये प्रयोग हमें कुछ भी नहीं दे पायेंगे।

नरेश मेहता की काव्य-भाषा का दूसरा और महत्त्वपूर्ण स्रोत उनका प्रकृति-साक्षात्कार है। प्रकृति को उन्होंने एक नये ही रूप में देखा है। उन्होंने लिखा है "जीवनयापन की आदिम दुर्दान्त परिस्थितियों ने तथा आत्म-सुरक्षा ने

उसे निश्चय ही द्विपदिक आक्रमणकारी हो बना रखा होगा लेकिन कभी तो ऐसे अवसर निश्चय ही आये होंगे कि जब प्रकृति की रम्यता ने उसे उसकी द्विपदिक पशुता से ऊपर उठा कर मानवीय उदात्तता का बोध करवाया होगा। जब बारम्बार प्रकृति की रम्यता से उसका हठात साक्षात् होता रहा होगा तब-तब प्रतिबार अपने भीतर श्रेष्ठत्व का अनिर्वचनीय आनन्द प्रकम्पित होता रहा होगा।'

(भूमिका-काव्य का वैष्णव-व्यक्तित्व)

प्रकृति, नरेश मेहता के संस्कारों को बनाने में उतनी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है जितने आर्ष-संस्कार की धारावाहिकता। कवि की ये पंक्तियाँ इसकी दृष्टि को व्याख्यायित करने में अचूक हैं

"क्या कोई अर्थ नहीं है
फूलों का या परिमल का ?
क्या व्यर्थ झाँकना है यह
जल में इन स्वर्ण-कमल का ?
ये संतों के पावनस्वर
किसको सम्बोधन करते ?
है कौन घास बन फैला
जिसको पशु तन्मय चरते।
कोई तो होगा नभ में
जल में, थल में या हम में,
जो गन्ध-समीरण बन कर
है घूम रहा कण-कण में।"

(शबरी)

मानवीय उदात्तताओं की स्रोतस्थली तो प्रकृति ही है। कवि की इस दृष्टि का ही परिणाम है कि उसकी काव्य-भाषा का विपुल अंश प्रकृति की ओर उन्मुख है। नदी, पर्वत, झरने, वनस्पतियाँ, सूर्य, चन्द्र, उषा, सन्ध्या, आकाश, रात्रि, दिवस, पुष्प, पत्रादि उसकी कविता के प्रमुख उपादान हैं। यूँ तो प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध सनातन है। वाल्मीकि से लेकर आज तक यह धारा बहती रही है। परन्तु हर युग के कवियों की प्रकृति के प्रति दृष्टि बदलती रही है। नरेश भी प्रकृति से ही मानवीय उदात्तता की प्रेरणा बार-बार लेते हैं। वह उनके लिए एक अक्षय स्रोत है। नये-नये संकेत उनसे कवि

को मिलते रहते हैं। नरेश जी की काव्य-भाषा की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्रोत स्थली प्रकृति ही है। उन्होंने लिखा भी है 'प्रकृति में, सृष्टि मे सामरस्य है, प्रतिद्वन्द्विता नही।' इसीलिए उन्होने प्रकृति के उस उदात्तरूप को ही सदा अपने मे हृदयंगम किया है जो कल्याण कारी है, सुरम्य है और रूप, रस और गन्ध से पूर्ण है। नरेश जी की काव्य-भाषा का अधिकाधिक शब्द-वैभव इसी प्रकृति-सम्पदा से उत्सृष्ट है।

किन्तु इतना ही काफी है कि हम किसी कवि की काव्य-भाषा के स्रोत-स्थलो को खोज निकाले और सन्तोष कर लें कि हमने उसकी काव्य-भाषा के स्वरूप को पहचान लिया है। काव्य-भाषा का गहरा सम्बन्ध काव्यानुभूति से है और काव्यानुभूति की पूरी निर्मिति को समझने के लिए हमें और अधिक उस रचनारत मानस की गहराई में झाँकना होगा। जब हम नरेश जी की काव्य-भाषा की अन्विति को स्वायत्त करने के लिए अग्रसर होते है तो सबसे गहरी विशिष्टता उसकी भाववाचकता प्रतीत होती है। उन्हें यह सृष्टि अपनी भावमयता में ही आह्लादित करती है। प्रत्येक संज्ञा अपने संज्ञात्व से आगे बढ कर अपनी भावात्मकता मे ही उन्हे संवेदित करती है। उन्हें वनस्पति उतनी प्रभावित नही करती जितनी वानस्पतिकता, वैष्णव उतना प्रभावित नहीं करता जितनी वैष्णवता, वृन्दावन उनके मन को उतना नही स्पन्दित करता जितनी वृन्दावनता। वानस्पतिक प्रियता, उत्सव-वैष्णवता, वैष्णवी सम्पूर्णता, आकाश की नीलवर्णता, राग की असमाप्तता, तापसी कुन्दनता, विशाल कौटुम्बिकता उपनिषदीय आश्रमता, कारुणी असंगता, चपल कौतूहलता, वासुदेविक प्रकम्पितता, वैदिकता, आरण्यकता, वानस्पतिक ऊर्ध्वता, अनुग्रहता जैसे प्रयोग कवि के व्यक्तित्व की एक ढलान की ओर निर्भ्रान्त संकेत करते हैं। और वह ढलान है वस्तु की आन्तरिक सत्ता, भाव सत्ता से साक्षात्कार की प्रवृत्ति। एक चीज हम देखते हैं। उसका रूप, वर्ण आकार हमे प्रभावित करते है। हमारी आँखे उनमें रमती हैं। परन्तु अनुभूति की गहराई में जब हम उतरते है तो निश्चय ही उस वस्तु की आन्तरिक सत्ता से हमारा साक्षात्कार होता है। नरेश मेहता को बार-बार यह लगता है कि उसी आन्तरिक सत्य को छूना है; उसे आत्मसात करना है, उसे ही स्पन्दित करना है। इसीलिए उनकी दृष्टि, उनकी अनुभूति बरबस भाववाचक शब्दो की तलाश में बेचैन रहती है। कहीं-कहीं ये प्रयोग अति को छूते लगते है जैसे 'कौतूहलता', या 'अनुग्रहता' परन्तु दिशा वही है और दृष्टि भी वही अन्तर्वेधी।

नरेश जी की काव्यानुभूति पर दृष्टि डालने पर एक और बड़ा सत्य उद्घाटित होता है और वह है संसार को, सृष्टि को समझने और देखने की उनकी प्रज्ञा। जैसे वे प्रकृति में प्रतिद्वन्द्विता नहीं, सामरस्य का दर्शन करते हैं, वैसे ही उन्हें समाज के द्वन्द्व भी उतने प्रभावित नहीं करते। विश्व की सत्ता द्वन्द्वात्मक है। निरन्तर सर्वत्र एक देवासुर-संग्राम चलता रहता है। मनुष्य के अन्तर्जगत में और बहिर्जगत में प्रतिपल वह युद्ध जारी है, परन्तु नरेश मेहता प्रकाशोन्मुखी रचनाधर्मिता को स्वीकार करके चलते हैं। वनस्पतियाँ भी उन्हें यही सन्देश देती हैं। जिधर प्रकाश उन्हें दिखता है, उधर ही वे अग्रसर होते हैं। उनकी भाषा में भी वही प्रकाशोन्मुखता है। वे गह्वरों की सत्ता से आक्रान्त नहीं हैं। घाटियाँ भी उन्हें स्वर्णिम प्रकाश से युक्त दिखती हैं और अपने चारों ओर उन्हें यज्ञ का, वैराट्य का, उदात्तता का वातावरण दिखता है।

'यह कैसा है यज्ञ
जहाँ यज्ञ भी यज्ञ को ही समर्पित है—
यज्ञो, यज्ञेन कल्पताम्।
समय
एक काल-यज्ञ सम्पन्न कर रहा है
जिसमें आयुमात्र की हवि दी जा रही है।
पृथिवी
एक वानस्पतिक यज्ञ कर रही है
जिसमें ऋतु मात्र की हवि दी जा रही है।
सूर्य
एक सावित्री-यज्ञ सम्पन्न कर रहा है
जिसमें अन्धकार मात्र की हवि दी जा रही है।
चन्द्र
एक सोमयज्ञ सम्पन्न कर रहा है
जिसमें औषध मात्र की हवि दी जा रही है।
मनुष्य
एक विचार-यज्ञ सम्पन्न कर रहा है
जिसमें तत्व मात्र की हवि दी जा रही है।
ये सारे यज्ञ

एक अग्नि-यज्ञ सम्पन्न कर रहे हैं
जिसमें नेति भाव की हवि दी जा रही है।

(उत्सवा)

यही कवि की केन्द्रीय अनुभूति है जिससे रंजित होकर वह सम्पूर्ण विश्व को उसके क्रिया-कलापों को और अपने को देखता है। इसी दृष्टि का प्रतिफलन उसकी समूची काव्यानुभूति में होता है और उसी की अभिव्यक्ति का माध्यम उसकी भाषा है, जिसके द्वारा वह शब्द और अर्थ से मुक्त होकर एक अतीन्द्रिय काव्यानन्द में विचरण करना और कराना चाहता है।

नरेश मेहता के भाषिक व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके काव्य की गहन संरचना पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है। उनकी इधर की, विशेष कर 'उत्सवा' की किसी भी कविता को लें और उसकी संरचना का अन्तर्वेधन करें। एक बात स्पष्ट हो उठती है कि कवि का मानस बाहरी जगत के द्वन्द्वात्मक धरातल से बहुत गहरे उतर कर एक ऐसी तन्मयता की स्थिति में आ चुका है जहाँ उसे या तो प्राचीन मिथक एवं प्रतीकों की सत्ता अभिभूत किये हुए है या वानस्पतिकता से ओत-प्रोत प्रकृति की सत्ता। अधिकांश कविताओं में ये दोनों लोक एक दूसरे में परस्पर घुले-मिले हैं और कवि की चेतना उसी लोक में पूर्णत: खोई हुई है। उस तन्मयता और तल्लीनता को समझे बिना नरेश मेहता की भाषिक संरचना को समझना भी सहज नहीं होगा। जैसे निराला की 'राम की शक्ति पूजा' की भाषिक संरचना को रचनाकार के मानस की गहन तन्मयता को समझे बिना समझना सम्भव नहीं है या 'असाध्य वीणा' की विविध अनुभूति-स्थलियों तक बिना कवि की प्रशान्त समाधि स्तरीय तल्लीनता को आत्मसात किये नहीं पहुँचा जा सकता, उसी प्रकार 'उत्सवा' की अनेक आर्ष प्रतीकों में ढली हुई कविताओं को भी बिना कवि की गहरी सर्जनात्मक तल्लीनता को समझे, समझ पाना सम्भव नहीं है। और बात केवल कविता को समझने तक ही सीमित नहीं है, उसके भावलोक में रमण करने की है। 'उत्सवा' की एक कविता 'लीला-भाव' को उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। प्रारम्भ ही इन पंक्तियों से होता है :

"यह कैसा है लीला-भाव कि—
अग्नि ही अग्नि में
अग्नि का होम कर रही है
और अग्नि ही स्वाहा भी हो रही है

यह कैसा लीला भाव है ?

यह किसका लीला भाव है ?"

इन पंक्तियों में ध्वनित भाव आश्चर्य का है या अभिभूत होने का या आह्लादित होने का या एक आकुल तन्मयता का यह प्रश्न भी बाद का प्रश्न है। 'लीला-भाव' या 'होम' या 'स्वाहा' या 'अग्नि' जैसे शब्दों के निहितार्थ को पूरी तौर पर उनकी पारम्परिक आर्ष आर्थवत्ता में ग्रहण कर लेना भी एक आंशिक उपलब्धि है। मूल प्रश्न है सम्पूर्ण विश्व-सत्ता को एक विशिष्ट दृष्टि से देखने और ग्रहण करने का। यह दृष्टि जिस गहरी संस्कारिता से उपलब्ध होती है उसके साथ कवि की तात्कालिक सर्जनात्मक तन्मयता भी उसका अनिवार्य तत्त्व है। पूरी कविता की बनावट और बुनावट को समझना उस आर्ष प्रज्ञा को ऐकान्तिक तन्मयता से अपने भीतर उतार लेने की क्षमता का साक्षात्कार किये बिना नहीं सम्भव है। यह तो अनेक बार कहा जा चुका है कि यह संसार, पूरा ब्रह्माण्ड किसी परम सत्ता का व्यक्त रूप है, पर इस दार्शनिक कथन को जब अनुभूति की धारा में इस प्रकार विलयित कर दिया जाये कि वह सीधे एक साक्षात्कार बनकर ग्रहण हो सके तभी वह कविता या कवि की उपलब्धि माना जा सकता है। और वह स्थिति हमें इस कविता में या इस जैसी कविताओं में मिलती है।

इसी तन्मयता का आनुषंगिक पहलू कवि की रचनाधर्मिता के प्रति एकनिष्ठ समर्पण की भावना भी है। आज कवि-कर्म एक सीमित परिधि में सिकुड़ता जा रहा है। रचनाकार अपने जीवन की अनेकानेक समस्याओं में उलझा हुआ है। कविता के लिए उसे कभी-कभी ही फुरसत मिलती है। दूसरे शब्दों में, कविता अब फुरसत का व्यापार बनता जा रहा है जो प्रायः नहीं मिलती। ऐसे रचनाकारों के मध्य नरेश मेहता उन थोड़े से लोगों में हैं जिनके लिए रचनाकर्म ही एक मात्र प्रधान कर्म है। शेष सारे कार्य-व्यापार आनुषंगिक हैं, गौण हैं और उन्हें लगातार स्थगित किया जा सकता है। कवि निरन्तर जैसे अपने सृजन-लोक में खोया रहता है। उसी धरातल पर ही उसकी चेतना घुमड़ती रहती है। वहीं वह बराबर मिथकों से, प्रतीकों से, प्रकृति से उलझता रहता है और उसकी वाणी रूपाकार ग्रहण करती रहती है। इसीलिए नरेश मेहता की भाषा एक विशाल सर्जनात्मक फलक जैसी लगती है। जैसे रात का आकाश अपने ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों और स्वर्गंगाओं के साथ देदीप्यमान होता रहता है, नरेशजी का काव्याकाश भी वैसा ही है।

उनकी भाषा एक विशिष्ट लोक का सृजन करती है। उस लोक में यदि पाठक पहुँच सके तो एक विशिष्ट स्वाद और आनन्द की दशा तक वह पाठक को पहुँचा पाती है। यदि पाठक वहाँ नहीं पहुँच पाता है तो वह दूर-दूर की चीज़ बनी रहती है, जिसे दूर से देख कर चाहे हम उसे इन्द्रजाल की संज्ञा दें या मायालोक की।

जब-जब नरेश मेहता ने अपनी भाषा को, उसके तेवर और स्वरूप को बदलने की कोशिश की है वे चूके ही हैं। जैसे 'शबरी' की भाषा और उसका छन्द नरेश मेहता के काव्य स्तर का नहीं बन सका है। लगता है सारी वेग-वत्ता सहम कर, सिमट कर रह गई है। तुकान्त पदों में, सरल भाषा में कुछ विशेष कह पाना उसी प्रभावोत्पादकता के साथ, यह उनका कौशल नहीं है। जब वे कहते हैं कि भाषा की सरलता या कठिनता केवल भाषा की शब्दता है जबकि काव्य उस शब्दता की सतह के नीचे की चीज़ है तो उसका यही तात्पर्य होना चाहिए कि प्रत्येक कवि की अपनी भाषिक वर्चस्विता होती है। उसको पहचान कर ही वह अपने सर्जनात्मक व्यक्तित्व को संप्रेषित कर सकता है और उसे पहचान लेने पर भाषा की सरलता और कठिनता अपना साधारण अर्थ खो देती है। नरेश जी का काव्यलोक मिथकों का लोक है, प्राचीन आर्ष-प्रतीकों का लोक है, भारतीय चिन्ता धारा को समोने वाला लोक है, प्रकृति की विशाल कल्याणी सम्पदा से परिपूरित लोक है उसी में से उन्हें अनुभूति मिलती है और उसी से उन्हें भाषा मिलती है। वहाँ न कठिनता का प्रश्न है न सरलता का।

इस सबके उपरान्त यह कहने में मैं कवि के भाषिक तेवर की आशंसा ही करना चाहता हूँ कि जहाँ उसे लगे कि उसके बिम्ब भाषिक बोझिलता के नीचे दब रहे हैं या अस्पष्ट हो रहे हैं वहाँ भाषा का दबाव कम करने का प्रयास करना ही चाहिए। अन्ततः उद्देश्य तो संवेदना का सम्प्रेषण ही है।

आठवाँ अध्याय

व्यक्तित्व का इन्द्र धनुष

आज के नरेश मेहता को मैं व्यक्तिगत स्तर पर जानता हूँ। वे मेरे लिए एक आत्मीय बन्धु, सखा और सम्माननीय रचनाकार हैं। मैंने उन्हे सभी रंगो मे देखा है। कोई भी रंग कम चटक नही है, कम आकर्षक नहीं है, कम जादुई नहीं है। उनके इस नाना वर्णी व्यक्तित्व को किसी भी कोण से देखा जाये वह बेहद प्रिय लगता है। मैं नही जानता वे अन्यो को कैसे लगते है। उनका मेरा सम्बन्ध केवल कुछ वर्षो का है। उसके अधिक पहले से मैं कई आधुनिक कवियो और साहित्यकारों को जानता हूँ। व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ, केवल अज्ञेय ही ऐसे कृती व्यक्तित्व के जीवित सर्जक रहे है, जिनके कृतित्व ने मुझे गहराई से प्रेरित किया था और उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से साक्षात्कार करने की ललक मन मे उठी थी। अन्तर इतना अवश्य है कि जहाँ अज्ञेय के सन्दर्भ में मेरी यात्रा उनके कृतित्व से व्यक्तित्व की ओर हुई वहाँ नरेश मेहता के सन्दर्भ मे मेरी यात्रा का क्रम मुख्य रूप से व्यक्तित्व से कृतित्व की ओर रहा। इसका यह अर्थ नही कि नरेश जी से व्यक्तिगत परिचय के पूर्व मै उनकी कृतियों से पूर्णत अपरिचित रहा। 'दूसरा सप्तक' में छपी उनकी कविताएं, 'यह पथ बन्धु का', धूमकेतु एक श्रुति, 'नदी यशस्वी है' आदि उनके उपन्यास मैंने पहले भी पढ रक्खे थे। परंतु नरेश जी के व्यक्तित्व के जादू ने ही मुझे उन्हें सांगोपांग पढने की प्रेरणा दी।

नरेश मेहता के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है उनकी निर्विकार उच्छल आत्मीयता। जब भी और जिन परिस्थितियों में मेरी उनसे भेंट हुई, प्रथम क्षण मे ही जो एक चुम्बकीय, आह्लादकारी मुस्कान उनकी बिछी हुई मिलती है, मन को पूरी तौर पर अभिभूत कर लेती है। कहते है, चेहरा पूरे व्यक्तित्व का वातायन होता है। वह वातायन मुझे कभी भी बन्द नही मिला। इतना मुस्कुराता हुआ, इतना अपनाता हुआ चेहरा कम मिलता है। लोगों मे

लोगों के बारे में कितनी कड़वी-मीठी बातें सुनने को मिलती हैं। नरेश जी के विषय मे भी मुझे सभी कुछ प्रिय ही सुनने को नही मिलता और निश्चय ही मेरे विषय मे तो उन्हें और भी कितनी-कितनी बातें सुनने को मिलती होंगी, क्योंकि प्रयाग में काफी अर्से तक मैं एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप मे जाना जाता रहा हूँ। जेल जाने से लेकर जनसभाओं में व्याख्यान देने तक सभी राजनीतिक कर्म मैंने किये हैं। लोहिया मेरे लिए एक प्रेरणा-पुरुष रहे हैं। इधर दशकों से राजनीति से पूर्णतः पृथक हो जाने के बाद भी मैं उस पक्षधरता के परे का व्यक्ति तो नही माना जा सकता जिसका विपक्ष हो ही नहीं। परन्तु इस सबके बाद भी मुझे कभी नही लगा कि नरेश जी के चेहरे पर मेरे भेंट के क्षण मे कोई बादल छाया हुआ है या कुहरे मे डूबा हुआ चेहरा मैं देख रहा हूँ। क्या है इस आत्मीयता का रहस्य? कहाँ है इसका अक्षय स्रोत? वर्षों मे उनकी इस अनाहत आत्मीयता को निर्बाध रूप से प्राप्त करते हुए मैं जब-जब गहराई से इस पर विचार करता रहा हूँ तो मुझे आश्चर्य ही होता रहा है। ठीक है, मेरी उनसे कोई प्रतिद्वन्द्विता नही कही कोई ईर्ष्या-द्वेष का तर्क संगत आधार नही, अत आत्मीयता एक सहज मानवीय गुण के रूप मे उभर कर हमारे सम्बन्धो को आच्छादित कर ले ता इसमें आश्चर्य क्या और क्यो? परन्तु बात इतनी सरल नही है। मैंने उन्हे ऐसे बहुत से कवियों और साहित्यकारों की चर्चा मे डाल कर कुरेदना चाहा कि देखें उनमे अपने सहकर्मियो के प्रति ईर्ष्या या प्रतिस्पर्द्धी भाव कितना है। परतु हर बार मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। किसी भी चर्चा मे यह नही प्रमाणित हो सका कि वे अपने सहरचनाकारो के प्रति कोई ईर्ष्यालु भाव रखते हो। 'अज्ञेय पर मेरी रचना प्रकाशित हो चुकी थी। मैं उनके खुले प्रशंसक के रूप में जाना जा रहा था, जब मेरा नरेश जी से सम्बन्ध बनना शुरू हुआ। कभी भी अज्ञेय के प्रति मेरा भाव हम लोगो के बीच अवरोधक सिद्ध नहीं हुआ। उल्टे उन्होंने मेरी भावनाओं के सहारे अज्ञेय को नये सिरे से अपनाने का भाव दिखलाया। मैं आश्चर्य चकित था कि इस आदमी में जरा भी तो ईर्ष्या नही है। एक प्रसग उन्होंने बतलाया कि जब उनकी पुस्तक 'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' प्रकाशित हुई तो उन्होंने उसे अज्ञेय की वैचरिक वर्चस्विता को समर्पित की। अज्ञेय की ओर से कोई प्रतिक्रिया नही हुई। उल्टे कुछ समय पश्चात् उन्होंने 'नया प्रतीक' मे उन्होने इस पुस्तक की तीखी आलोचना भी की। नरेश जी का कहना था कि उन्हे समर्पित करके मैंने उन पर कोई एहसान थोड़े किया था। जिस वैचारिक वर्चस्विता के वे धनी थे उसी की तो थी उस समर्पण में उन्होंने मेरी

पुस्तक को जैसा समझा वैसा लिखा। इसमें बुरा क्यों माना जाये? पुस्तक समर्पित करके मैंने कोई प्रत्याशा थोड़े की थी।" मैं नहीं जानता नरेश जी कहाँ तक अपनी राग-मुक्तता को वाणी दे रहे थे, परन्तु इस प्रतिक्रिया में जितना भी ध्वनित हो सका वह आज के कलुष-पूर्ण वातावरण में कम प्रेरणा दायक नहीं है।

अज्ञेय और नरेश मेहता के बीच मैं एक कड़ी जैसा बन रहा हूँ, ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा था। परन्तु इस प्रतीति को प्रमाणित किया नरेश जी ने जब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, "आप को कई बातों के लिए श्रेय जाता है, खास करके मेरे और अज्ञेय के सम्बन्धों को पुनरुज्जीवित करने का तो पूरा श्रेय आप को है।" मुझे एक दृश्य याद आता है। अज्ञेय जी प्रयाग आये हुए थे। उनके सम्मान में नरेश जी ने अपने घर पर कुछ मित्रों को चाय पर बुला रक्खा था। यूँ तो अज्ञेय जी की इच्छा सीधे और अकेले नरेश जी से ही मिलने आए पूरी आत्मीयता से बातचीत करने की थी, परन्तु अज्ञेय जी की इस इच्छा से नरेश जी परिचित नहीं थे, और उनकी दृष्टि में अज्ञेय का सम्मान ही उस समय प्रमुख रूप से था। अतः कई मित्रों के साथ ही अज्ञेय और नरेश जी का मिलना उनके घर पर हुआ। उसके पूर्व एकाध बार अज्ञेय जी नरेश जी के घर पहले भी गये थे, परन्तु भेंट नहीं हुई थी। उस भेंट की सबसे केन्द्रीय बात जो मेरी स्मृति में कभी उतरती ही नहीं वह थी कि नरेश मेहता इतना प्रसन्न थे जैसे उन्होंने कोई नशा सेवन कर रक्खा हो। उनकी हँसी और उनके किस्से दोनों एक दूसरे को मात कर रहे थे। लगता था जैसे उल्लास एक उन्माद के रूप में उन पर छाये जा रहा हो। हर बात पर हँसी के ठहाके। हर ठहाके पर एक किस्सा। वे आपे से बाहर थे। अपने एक साहित्यिक बन्धु के पुनर्मिलन पर आह्लाद का इतना अतिरेक मैंने पहले कभी नहीं देखा था। अज्ञेय जी प्रयाग आते रहते हैं। उन्हें मैंने रामस्वरूप जी के, साही जी के, विपिन अग्रवाल के घर पर देखा है। कहीं भी उनको लेकर उनका आतिथेय इतना उल्लसित हो उठे कि वह अपने आपे में ही न रहे, यह मैंने नहीं देखा। ये सभी लोग अज्ञेय के पहले से निकट रहे हैं, सहयात्री और अनुगामी भी रहे हैं, परन्तु ऐसा क्या था जो नरेश मेहता को इतना उल्लसित किये दे रहा था। मुझे बार-बार लगता था जैसे उन्हें अपनी खोई हुई निधि मिल गई हो। वास्तव में अज्ञेय के साहित्यिक कृतित्व और व्यक्तित्व को वे सम्मान देते रहे हैं। अपने अन्तर में उन्हें अर्से से वे उसी सम्मान की पीठिका पर रखे रहे थे, तभी तो हठात् जब बाहर का आवरण हटा तो भीतर की स्नेह धारा पूरी वेगवत्ता से फूट पड़ी।

पूरी बातचीत प्राय: एकतरफ़ा थी। नरेश जी ही बोल रहे थे, वे ही हँस रहे थे, ठहाके मार रहे थे और किस्से पर क़िस्से सुना रहे थे। उस आह्लाद के आवेश मे उन्हें यह भी स्मरण नहीं था कि और लोग केवल सुन रहे है। और सचमुच उन्हें उस समय सुनने और देखने में कितना सुख था।

नरेश जी की इस अकूत आत्मीयता के पीछे उनकी संस्कारिता तो है ही। निरन्तर एक प्रकार का अभ्यास भी है। वे अर्से से अपने मन को निर्विष बनाने का निरन्तर प्रयास करते रहे है। इस बाहरी दुनिया से ताल बैठाने में उनका पारिवारिक जीवन कितना कुछ झेलता होगा, मैं नही जानता। परन्तु सबसे निरन्तर मधुर और आत्मीय बने रहने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपनी झल्लाहट अपने परिवार पर उतारी जाये। मेरे साथ तो ऐसा ही होता है। नरेश जी का मैं नही जानता।

नरेश मेहता और प्रयाग के अन्य साहित्यकारो के बीच के रिश्ते को भी मैंने काफ़ी पैनी नजरों से देखा है। सबसे विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण बात मुझे यह लगी कि वे साहित्यिक मित्रों के मिलन को असाहित्यिकों के मिलन से भिन्न प्रकार का संयोग मानते है। उनको इस बात का सबसे अधिक क्लेश रहता है कि दो रचनाकार जब मिलते हैं तो वे अपने रचना-कर्म पर बातें क्यों नही करते ? क्यो वे केवल साहित्येतर विषयो पर ही बातें करते है। कुशल-मगल पूछने तक तो ठीक है, परन्तु उनके बीच की सारी बातें जब उनके कृती व्यक्तित्व को बचाकर होने लगती है तो नरेश जी को क्लेश होता है। वे बार-बार अपने और मुक्तिबोध के बीच बीते नागपुर के एक वर्ष के कालखण्ड की याद करते हैं। उनके और मुक्तिबोध के बीच घंटो-घंटों, कभी-कभी दिन मे १०-१०, १२-१२ घंटे बाते होती थीं और लगातार केवल साहित्यिक कृतित्व के ही विभिन्न पक्षों पर बातें होती थी। एक साहित्यकार की अपने रचना कर्म के प्रति पूरी निष्ठा का ही यह द्योतन है। मुझे उनका यह क्लेश उचित ही लगता है। आप भी लिख रहे हैं, हम भी लिख रहे है तो मिलने पर वह जो हमारे मानस को इस समय उद्वेलित कर रहा है क्यो संवाद की परिधि के बाहर रहे। नरेश मेहता कहते है कि मुझे इस बचाव में एक व्यक्तित्व की कमी की अनुभूति होती है। इसीलिए उनका अन्तरंग सम्बन्ध इतने अर्से तक प्रयाग में रहने पर भी अधिक साहित्यिक बन्धुओं से नही है। औपचारिक परिचयात्मक सम्बन्ध तो सभी साहित्यकारो से है। कौन उन्हें नहीं जानता या किसे वे नही जानते ? परन्तु अन्तरंग मैत्री के विषय में पूछने पर वे दो-एक नाम गिनाकर रुक जाते हैं उन दो-एक नामो में एक शैलेश मटियानी जी

या शांति जी है जिनके घर उनका आना जाना होता है और जिनकी सदाशयता और उदात्तता को वे मूल्यवान समझते हैं। प्रयाग साहित्यकारों का नगर है। यहाँ प्रगतिशील और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के शिविर वाले लेखकों के बीच लम्बी-लम्बी बहसें चल चुकी हैं। आज भी 'परिमल' की गतिविधियाँ साहित्यकारों की जीवन्त स्मृतियाँ हैं। इसी प्रयाग में दर्जनों साहित्यकार अब भी हैं परन्तु साहित्यिक गतिविधियाँ मात्र व्यक्तिगत सीमा में रहकर लिखने तक सिमट गई है। और वह भी कितना हो पाता है। जब बहस-मुबाहिसे बन्द हो जायें, संवाद की सरणियाँ अवरुद्ध हो जायें तो धीरे-धीरे रचनाधर्मिता भी सूखने लगती है। नरेश जी मिलने को यत्र-तत्र अपने साहित्यिक मित्रों से मिलते ही रहते हैं—कभी रामस्वरूप जी से कभी रघुवंश जी से, कभी साही जी से, कभी विपिन और लक्ष्मीकान्त जी से परन्तु वह मिलना, बस मिलना ही भर है। वह बात कहाँ जो नरेश जी और मुक्तिबोध के बीच थी! क्या नहीं साहित्यकार एक दूसरे के अन्तरंग मित्र बन पाते? क्यों उनके बीच उनका कृतित्व सेतु बनकर नहीं प्रस्तुत होता? इस पर उन्हें अचरज भी होता है और दुख भी। वे एक निपट एकाकीपन की अनुभूति में डूबे रहते हैं। यूँ आजकल उनका अधिकांश समय रचना कर्म में ही बीतता है। 'उत्सवा' जैसी आर्षवाणी का सृजन करके उन्होंने एक विराट् उपन्यास 'उत्तर कथा' के प्रथम खण्ड को पूरा किया है और उत्तरकथा के दूसरे खण्ड को वे पूरा कर रहे हैं। अत अधिकांश समय उनका सृजन-प्रक्रिया में ही बीत रहा है।

नरेश जी की अन्तरंगता कितनी दूर तक जा सकती है अपने मित्रों के साथ इसका कुछ अनुभव तो मुझे अपने प्रसंग में भी होता ही रहता है, परन्तु एक गहरा अनुभव तब हुआ जब उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय के निराला व्याख्यान माला के क्रम में दो दिनों "मुक्तिबोध: मित्र और कवि" शीर्षक पर अपना लिखित व्याख्यान पढ़ा। लगा कि एक जीवन दूसरे जीवन में किस सीमा तक प्रविष्ट हो सकता है उसका अप्रतिम उदाहरण नरेश मेहता और मुक्तिबोध का अन्त: सम्बन्ध रहा है। पूरा का पूरा व्याख्यान अपने ही भीतर उतरते जाकर उस व्यक्तित्व को निकाल लाने का विराट् उपक्रम था जो कहीं गहरे बहुत गहरे उनके भीतर धँसा हुआ था। मुक्तिबोध को पूरा साबुत निकाल कर रख दिया था उन्होंने अपने भीतर से। एक पूरे व्यक्तित्व को दूसरे के भीतर से उगते हुए मैंने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। देखता भी कैसे? कौन अपने भीतर दूसरे को इस प्रकार उतार लेता है? इसके लिए जितनी निष्कलुष और एकान्त समर्पण भावना की दरकार होती है वह कहाँ मिलती है? निश्चय

ही इसमें सारा श्रेय नरेश मेहता को ही देना उचित नहीं होगा। इसका बहुत कुछ श्रेय मुक्तिबोध को भी जाता है। उनके व्यक्तित्व में अवश्य ही ऐसे तत्तु रहे होंगे जिनके कारण नरेश मेहता के अन्तस् में वे इतने गहरे उतर सके थे।

नरेश जी के व्यक्तित्व का जो दूसरा पक्ष मुझे बारम्बार प्रभावित करता रहा है वह उनकी शालीनता है। वे किसी के अन्तरंग हों-न-हों परन्तु वे सबसे और सबके प्रति शालीन हैं। उन्हें आप चाहे तो तीखा से तीखा वार करके देख लें। उनके चेहरे पर कुछ रेखायें भर उभर आयेंगी, बस। उसके बाद सब ठीक है। यह भी उन्हें उतनी ही आसानी से पच जायेगा, जितना अब तक का सारा कड़ुवा-कड़ुवा उन्होंने पचा लिया। आखिर 'काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व' उन्हीं की परिकल्पना में क्यों जीवन्त हो उठा? कुछ तो है उनकी बनावट में जो उन्हें इतना शालीन, इतना सहनशील आघातों के प्रति इतना उदासीन बना देता है। उन्होंने एक जगह लिखा है—

"जब हम कहते है कि कल का दिन बीत गया, तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि कल के दिन की पदार्थता या देशगत सीमा बीत गयी क्योंकि कल के दिन की जितनी चेतनता थी या उसकी जितनी तात्विक पुष्प-गन्ध थी वह हममें से कभी नही बीतती। तात्पर्य यह कि बीतता वही है जिसकी सीमा होती है। देश बीतता है, काल नहीं। काल अक्षर है। जड़ या पदार्थ चाहे हिमालय ही क्यों न हो किसी-न-किसी अक्षांश देशांतर पर जाकर समाप्त होता ही है पर आकाश नहीं। फूल का स्वरूप बीतता है न कि गन्ध या उसकी स्मृति। चेतनता की इस अक्षरता को पहचानने वाला या वाहक हमारा मन होता है।" (—काव्य का वैष्णव व्यक्तित्व) तो मन की इस चेतनता को अपने भीतर जिस रचनाकार ने प्राप्त कर लिया वह अशालीन हो भी कैसे सकता है? नरेश जी को मैंने कठिन से कठिन परिस्थितियों में सदा मुस्कुराते ही देखा है। एक प्रसंग याद आता है। प्रयाग विश्वविद्यालय के निराला व्याख्यान माला मे अतिथि वक्ता को पाँच सौ रुपये पारिश्रमिक दिये जाते हैं। नरेश जी ने भी उक्त व्याख्यान माला के अन्तर्गत ही मुक्तिबोध पर व्याख्यान दिया था। नियम यह है कि अतिथि वक्ता को तत्काल व्याख्यान के उपरान्त उक्त राशि दे दी जाये। नरेश जी किसी अत्यन्त अनिवार्य प्रसंग मे सपरिवार अपने मातृ-प्रदेश जाने वाले थे। बजट का अनिवार्य भाग वह ५०० रुपये भी थे। उन्हें पूरा विश्वास दिलाया गया था कि ये रुपये तत्काल मिल जायेंगे। परन्तु विश्व-विद्यालय की में उलझ कर वह राशि बिना भुगतान

के रह गई और नरेश जी अपने घर नहीं जा सके। उसके पश्चात् मुझसे भेंट हुई। पूरी बात वे इतनी निर्विकारता और अनासक्तता से बतला गये जैसे मध्य-प्रदेश वे नहीं कोई और जाने वाला था, जो नहीं जा सका। अपनी पीड़ा को, अपनी असुविधा को इस प्रकार पी जाना कोई उनसे सीखे।

नरेश जी का आन्तरिक व्यक्तित्व जितना निर्मल है उतना ही आकर्षक उनका बहिरङ्ग भी है। एक अच्छी ही सुन्दर देह यष्टि और खुला हुआ स्वागत करता हुआ चेहरा, सुती हुई नासिका, हर एक को अपनी आत्मीयता में डुबोती हुई टेरती हुई आँखे, सुन्दर पान की पीक से रंजित ओठ, घुँघराले बाल सभी कुछ बेहद सुन्दर और आकर्षक। करीने से पहने हुए वस्त्र चाहे वे धोती कुरता हो पैंट, शर्ट और कोट हो या कुछ और। वे जो भी पहनते है बेहद सुरुचि और सुसंस्कृति की छाप छोड़ते हुए। नरेश जी के बहिरंग व्यक्तित्व को देखना, उनके साथ चलना उनसे बातें करना ये सब एक प्रीतिकर अनुभव-शृङ्खला का निर्माण करते है। वे जितना सजग और सावधान हैं अपने भीतर के विकार से मुक्त होने के लिए उतनी ही सजगता और सावधानी वे अपने बहिरंग को भी धवल और निर्मल बनाये रखने में बरतते हैं। उनका सौन्दर्य-बोध अपने आप में एक पूरा और जीवन्त प्रेरक तन्त्र है। जब भी मैं उनके घर गया हूँ बिना किसी पूर्व सूचना के, सदा उनके छोटे से घर को निर्मल एवं सुसज्जित ही पाया हूँ। बिस्तर पर साफ़ सुथरी चद्दर, धुले हुए तकिया-गिलाफ़, हरीतिमा से युक्त प्रांगण, पाले हुए पक्षियों का कलगान सभी कुछ एक मनोरम सृष्टि का अवयव प्रतीत होते हैं। सुरुचि और सुसंस्कृति उनके व्यक्तित्व के अनिवार्य पक्ष हैं। असावधानी और आलस्य जो बहुत से रचनाकारों के जीवन के अनिवार्य अंग प्रतीत होते है, नरेश जी से कोसों दूर है। निश्चय ही इसमें बहुत बड़ा योगदान उनकी पत्नी महिमा जी का भी होगा ही। परन्तु नरेश जी को किसी भी कोण से देखें उसमें असुन्दरता या कुरूपता की गन्ध नहीं मिलती, न भीतर न बाहर।

जैसे साहित्य में नरेश जी भारतीय संस्कृति के उन्नायक के रूप में स्मरणीय रहेंगे, जीवन में भी उनकी रुझान उन मूल्यों के प्रति उतनी ही गहरी है। ध्यान, धारणा, समाधि की साधना उन्होंने किस सीमा तक की है, यह तो मैंने उनसे कभी नहीं पूछा परन्तु नवरात्र का उपवास और पूजा, नियमित सन्ध्या-गायत्री आदि ब्राह्मण संस्कार उनमें पूरी तौर पर विद्यमान है। अपनी काया को तपाने में भी उन्हें पूरा विश्वास है। हमारे देश में तप एक बहुत बड़ा मूल्य रहा है नरेश जी ने भी अपने जीवन में का पूरा महत्त्व दिया है

आभ्यन्तिरक मूल्य साधना के स्तर पर भी और कर्मकाण्डीय स्तर पर भी। वे वस्तुत मे कर्मकाण्डो को मात्र कर्मकाण्ड नही मानते। शरीर और मन के परस्पराावलम्बन का सिद्धान्त तो आज का विज्ञान और मनोविज्ञान भी मानता है। हमारे देश मे आचार और विचार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना गया। नरेश जी जिस भी कायिक संस्कार को अपनाते और बरतते है, उसे मानसिक उन्नयन के साधन के रूप मे ही। शरीर के द्वारा और मन के द्वारा शरीर का नियमन और नियत्रण एक वैज्ञानिक और तर्क संगत सिद्धान्त है। शराब और मास का आहार करने वाला ब्रह्मचर्य के मूल्य को न स्वीकार कर सकता है न उसे बरतने में ही अग्रसर हो सकता है। शाकाहारी सात्विक भोजन ही हमे अहिंसा और ब्रह्मचर्य जैसे मूल्यो की ओर उन्मुख कर सकता है। नरेश जी इस मीमासा से भलीभाँति परिचित है। अत उनके कर्मकाण्डो को हम उसी तात्विक आधार पर ही महत्वपूर्ण मानते है। यदि वे मात्र एक पारम्परिक दैनन्दिन कर्म बन जाये तो उनका कितना महत्व है?

नरेश जी के व्यक्तित्व मे उस परम सत्ता की अनुभूति और उसके प्रति रुझान का जो तत्व है उसे रेखांकित किये बिना हम उनके व्यक्तित्व को पूर्णता से नहीं समझ सकते। आस्तिकता का दर्शन हमारे देश के लिए कोई अपरिचित दर्शन नही है। पूरा देश ही धर्म को धर्मान्धता की सीमा तक स्वीकार करता आया है और उसके कारण जितना लाभ देश को हुआ है उससे कम क्षति भी नही उठानी पड़ी है। फिर नरेश मेहता मे भी वह धर्म भावना है तो उसकी विशिष्टता क्या है, यह प्रश्न उठाया जा सकता है। परन्तु इसी कारण यह भाव विशेष रूप से उल्लेखनीय बन जाता है। जिस प्रवृत्ति ने देश में एक विवेक-हीनता या विवेक-शून्यता का वातावरण बनाया उसी के कतिपय विकारो से मुक्त भाव की अवधारणा से हम इस देश की चेतना को पुनरुज्जीवित भी कर सकते है इसीलिए हमे धर्म के उस महाभाव को पहचानना और अपने में प्रतिष्ठित करना होगा जिसके सहारे हम पुन. एक बार पूरी प्रखरता और निष्ठा से खडे हो सकें। नरेश जी जिस धर्म-भावना से अनुप्राणित है वह यही सम्प्रदाय मुक्त उदार धर्म-भावना है जो सृष्टि को स्रष्टा से जोड़ती है और व्यक्ति के मन मे उदात्त भावो को प्रतिष्ठित करती है। नरेश मेहता आज उसी धर्म-भावना से अनुप्राणित कवि है जिन्हें सत्य, शिव एवं सुन्दर मे कोई अन्तर्विरोध नही दिखता।

नरेश मेहता के रचनात्मक व्यक्तित्व पर जब भी गहराई से दृष्टिपात किया जायेगा उन्हे सहज ही रस पर अवस्थित क रूप म पहचान

लिया जायेगा, जो कभी भक्तिकालीन कवियों का धरातल था। ऐसा कहते हुए मेरे सामने उनकी वह सम्पूर्ण सर्जनात्मकता है, जो उनकी कविताओं में विशेष रूप से भास्वर हुई है। भक्ति का विकास मूलतः प्रेम से ही होता है। प्रेम जहाँ एक व्यक्ति में केन्द्रित होता है, उसके प्रति निवेदित होता है, भक्ति में वह प्रसारित होकर पूरे ब्रह्माण्ड के रचयिता के व्यक्तित्व में आत्मसात् होना चाहता है। नरेश मेहता इस अर्थ में उस मध्यकालीन भक्त कवियों से आधुनिक हैं, कि उनका तादात्म्यीकरण उस स्रष्टा में चाहे पूर्ण न हो, परन्तु उसकी सृष्टि से पूरा है। वे स्रष्टा की परम सत्ता को उसके व्यक्त रूप में ही देखते और अनुभव करते हैं। उन्हें प्रकृति और चेतन-अचेतन विश्व के परे जाकर उसके रचयिता की तलाश की जरूरत उतना बेचैन नहीं करती। प्रकृति और समूचा व्यक्त ब्रह्माण्ड ही उन्हें पूरी तौर पर अपने में रमा लेता है। उनकी वैष्णवता किसी विष्णु की खोज में उतनी परेशान नहीं होती, यह सृष्टि ही उन्हें विष्णुरूपा प्रतीत होती है। इसी में उसी भाक्तिक निष्ठा से वे रम जाते हैं जिससे भक्त अपने आराध्य में रमता था। यह निश्चय ही भक्ति भावना का अधिक संगत एवं वैज्ञानिक रूपान्तरण है। आज के वैज्ञानिक युग में कवि भी यदि केवल इसी ऊहापोह में फँसा रहे कि 'कौन नभ के पार रे कह' तो वह आधुनिक मन को उतना प्रभावित नहीं करता जितना उसकी अनुभूति का यह आयाम जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है :

"धरती के काव्य-संकलन जैसे
ये वन, उपवन
साम्राज्ञियों के चीनांशुकों से
ये धन खेत
खुला कार्तिक का अबाध आकाश
कृष्ण-आकुल गोपिका नेत्रों जैसे
ये श्यामल मेघ
वृन्दावनी सारंग सी
ये दक्षिणात्य हवाएँ—
कुछ भी,
क्या कुछ भी तुम्हें अब आमन्त्रित नहीं करते ?"

(उत्सवा)

ओर प्रकृति का यह आमन्त्रण उन्हें इतनी गहराई से अपनी ओर खींचता है कि चारों तरफ उन्हें एक विचित्र उदात्त कल्याणकामी लोक नजर आता है और सब के केन्द्र में है, मनुष्य । मनुष्य को पहचानना, उसे श्रेष्ठ मानव के रूप में प्रतिष्ठित करना उनका प्रथम सरोकार है। उनकी निष्ठा और उनकी भागवत दृष्टि केवल अपने को उच्चतम धरातल तक पहुँचा कर सन्तुष्ट होने वाली नहीं है, वे बार-बार अपने मानुष-प्रेमी भाव को रेखांकित करते हैं

"अविश्वास मत करना
प्रत्येक पगडण्डी से मानुष-गन्ध आती है।
किसी भी मन्त्र को सूँघो
किसी भी स्तोत्र को छुओ
मानुष की गन्ध और जयकार दिखायी देगी।
मनुष्य होने का अर्थ ही है
एक उत्सव
एक रास का आरात्रिक सम्पन्न होना ।
मनुष्य का रास-पुरुष ही
देश और काल में यात्रा कर रहा है।"

(उत्सवा)

तो यही है नरेश मेहता की केन्द्रीय प्रेरणा जो मनुष्य की मनुष्यता की जय-यात्रा का उद्घोष करती है।

इस बिन्दु पर नरेश मेहता के व्यक्तित्व की परख करते हुए एकपक्षीयता की शिकायत की जा सकती है। कहा जा सकता है कि जिस कवि या रचनाकार को इस संसार की कुत्सा, कुरूपता, विकृति, शोषण, अन्याय या अन्याचार नहीं दिखलाई देंगे वे उनसे जूझने की प्रेरणा नहीं देगा, उसकी कविता केवल उपदेश बनकर रह जायेगी, परन्तु उससे मनुष्य की सन्तुलित चिन्तन-दृष्टि नहीं बन पायेगी, उसकी समझ में भी कोई तात्त्विक विकास नहीं हो पायेगा। मैं निजी तौर पर यह मानता हूँ कि मनुष्य जिस सीमा तक शरीर की आवश्यकताओं से संचालित होता है उसी सीमा तक उसके मन की भी जरूरतें उसे क्रियाशील बनाती हैं। इनमें किसी एक को गौण नहीं बनाया जा सकता। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध भी नहीं है कि पहले मन को ठीक कर लें तो शरीर स्वयं ठीक हो जायेगा या पहले शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाये तो फिर मन को भी परितुष्ट कर लिया जायेगा। ये दोनों स्वतन्त्र एवं समानान्तर

है। दोनों को समान रूप में और साथ-साथ पुष्ट करना पड़ता है, तभी स्वस्थ मानव को निर्मित किया जा सकता है। इस देश में भी जमाने-जमाने तक यही माना गया था कि मानसिक संस्कार को ठीक कर लो तो शारीरिक भूख और तृषा तुम्हें विचलित और बेचैन नहीं करेगी। परन्तु दीर्घकालीन मानव-यात्रा ने यही सिद्ध किया कि मन और तन दोनों की पुकार समान रूप में महत्त्वपूर्ण है और समान रूप में ही उनकी संतृप्ति भी अनिवार्य है। आज की साम्यवादी एवं अन्य भौतिकवादी चिन्तन-सरणियों में इस बात पर बल दिया गया है कि शरीर की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी कर देने पर स्वस्थ मानव के निर्माण का धरातल उपलब्ध हो जाता है, परन्तु वह प्रयोग भी पूरी तौर पर असफल सिद्ध हुआ है। नरेश मेहता का काव्य हमें जिस उदात्त भूमि पर छूता है या हमें जिस उदात्त धरातल पर पहुँचाना चाहता है, वह निश्चय ही शरीर की अपेक्षा मानसिक संस्कारों को महत्त्व देने वाला धरातल है, परन्तु हमें उसे जिस तात्त्विक दृष्टि से देखना चाहिए वह यह है कि नरेश मेहता एक ऐसे वैष्णव व्यक्तित्व के कवि हैं, जिन्होंने मनुष्य की उस यात्रा को ठीक पहचाना है, जिसमें वह पशुता से मनुष्यता के संस्कारों को पूर्ण तौर पर अर्जित कर चुका है। पशु में क्रोध है, परन्तु क्षमा नहीं है। मनुष्य में क्रोध है और क्षमा भी है। पशु में भोग है, परन्तु संयम नहीं है। मनुष्य में भोग की वृत्ति के साथ संयम की वृत्ति भी है। पशु में वासना है परन्तु प्रेम नहीं है। मनुष्य में सेक्स है और प्रेम भी है। पशु में हिंसा है और अहिंसा नहीं है। मनुष्य में हिंसा है और अहिंसा भी है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य की यात्रा क्रोध या प्रतिकार से क्षमा की ओर है, सेक्स से प्रेम की ओर है, हिंसा से अहिंसा की ओर है, भोग से संयम की ओर है और ज्यों-ज्यों हम मनुष्यता की सीमा में आगे बढ़ते जाते हैं इस यात्रा को नयी मंजिलें मिलती हैं, पशु प्रवृत्ति छूटती जाती है। नरेश मेहता का सर्जनात्मक व्यक्तित्व मनुष्य की इस जय-यात्रा का गहरा साक्षात्कार कराता है और वही इसकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

अन्त में नरेश जी के व्यक्तित्व की उस विशिष्ट रचना की ओर संकेत करना चाहूँगा जो विधाता की ओर से कुछ कवियों को ही प्राप्त होती है। निराला या पन्त को देखें या महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर को देखें या इधर के हिन्दी कवियों में अज्ञेय और नरेश मेहता को देखें लगता है विधाता ने इनकी रचना करते समय इन्हें मानसिक एवं शारीरिक सौन्दर्य दोनों की प्रचुर सम्पदा प्रदान की है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अच्छा या बड़ा कवि होने के लिए शरीर से सुन्दर होना ——— है परन्तु जब हम किन्हीं किन्हीं

व्यक्तित्वों में यह देखते हैं कि उनका तन और मन समान रूप से समृद्ध और सुन्दर है, तो हमें यह लगता है कि विधाता की योजना का ही यह अंग है।

नरेश मेहता सचमुच सुन्दर हैं और इससे भी बढ़कर उनका सौन्दर्य-बोध है जिसे चारों ओर एक परम सौन्दर्य का दर्शन होता है। सचमुच जो हमारे पूर्व पुरुषों ने कल्पना की थी कि साहित्य या काव्य सत्य, सुन्दर एवं शिव की ही अभिव्यक्ति है उसकी पूरी-पूरी अभिव्यक्ति नरेश जी के कवि व्यक्तित्व में होती है। इसीलिए तो कवि को लगता है .

"वृक्ष जब प्रार्थना करता है
तब एक फूल का जन्म होता है,
....

मैं जब भी तुम्हारा नाम
सम्पूर्ण भी नहीं
मात्र नाम
बाँसी में बजाता होता हूँ, कि
लगता है--
विजन में एक फूल बन रहा है।"

—उत्सवा

लेकिन जैसा मैंने कहा नरेश जी के व्यक्तित्व का सबसे केन्द्रीय और सबसे शक्तिशाली भाव है मनुष्य के उत्कर्ष का भाव। इसीलिए तो वे कह सके हैं :

"एक दिन मनुष्य सूर्य बनेगा
क्योंकि वह आकाश में पृथिवी का
और पृथिवी पर आकाश का प्रतिनिधि होगा।"

—उत्सवा

यही हिमालयी आस्था नरेश जी के सर्जनात्मक व्यक्तित्व की मूल शक्ति है।

●